वाइरस एवं कैंसर की कहानी



576.64
कृष्ण/वा

वाइरस एवं कैंसर की कहानी

130

कृष्णानंद दुबे

एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि०
रामनगर, नई दिल्ली-110055

एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि०

मुख्य कार्यालय : रामनगर, नई दिल्ली-110055

शोरूम : 4/16 बी, आसफ अली रोड, नई दिल्ली-110002

शाखाएँ

महावीर मार्केट, 25, ग्वाइन रोड, अमीनाबाद, लखनऊ-226001

285/जे, विपिन बिहारी गांगुली स्ट्रीट, कलकत्ता-700012

सुल्तान बाजार, हैदराबाद-500195

ब्लैकी हाउस, 103/5, वालचन्द हीराचन्द मार्ग, बम्बई-400001

खजांची रोड, पटना-800004

माई हीरां गेट, जालन्धर-144008

152, अन्ना सलाए, मद्रास-600002

3, गांधी सागर ईस्ट, नागपुर-440002

के० पी० सी० सी बिल्डिग, रेसकोर्स मार्ग, बंगलौर-560009

613/7, महात्मा गांधी रोड, एर्नाकुलम कोचीन-682035

पान बाजार, गुवाहाटी-781001

एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि०, रामनगर, नई दिल्ली-110055 द्वारा प्रकाशित तथा राजेन्द्र रवीन्द्र प्रिंटर्स (प्रा०) लि०, रामनगर, नई दिल्ली-110055 द्वारा मुद्रित।

विषय-सूची

		पृष्ठ संख्या
१. कोशिकाओं की प्रतिरक्षा	...	१
२. जीन	...	१९
३. वाइरस तथा कैंसर	...	४०
४. मस्तिष्क	...	५९
५. जीवन में परमाणु	...	७०
६. श्रेष्ठतम अभी आगे है	...	८४

विज्ञान बुद्धि की कविता है···

—लारेंस डरेल

"हम समुद्र-तट पर लड़ेंगे, हम वायुयानों के उतरने की जगहों पर लड़ेंगे, हम खेतों और सड़कों में लड़ेंगे, हम पहाड़ियों पर लड़ेंगे; हम कभी आत्म-समर्पण नहीं करेंगे।"

—चर्चिल

१. कोशिकाओं की प्रतिरक्षा

कोशिका पर आक्रमण करने वाले बहुत से शत्रु हैं। आक्रमणकारी दल अजीब शक्लों वाले और विभिन्न आकारों वाले होते हैं और अपने लक्ष्य पर अनेक प्रकार के शस्त्रों से प्रहार करते हैं। कोशिका अथक वीरता के साथ उनका सामना करती है। यदि उसकी सशस्त्र सतर्कता में चूक हो जाय तो कोशिका दुर्ग पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़े। जन्म के साथ ही संघर्ष आरम्भ हो जाता है और निर्ममता के साथ जारी रहता है। इसमें दया को स्थान नहीं है; इसमें युद्ध-विराम नहीं होता। इसमें केवल जीवन या मरण होता है। कोशिकाओं का जीवित बच रहना एक दैवी घटना है जो उनके प्रतिरक्षात्मक शस्त्रों के कारण सम्भव होती है। ये शस्त्र कई प्रकार के हैं और उनकी डिज़ाइन आश्चर्यजनक बुद्धिमत्ता की द्योतक है।

खूब भरे पूरे शस्त्रागार से कोशिका-रक्षक कौन-से विशेष शस्त्र किसी एक समय निकाले जाएँगे, यह आक्रामक की प्रकृति पर निर्भर है। आक्रमणकारी शत्रु को कोशिका भस्म कर सकती है; एन्ज़ाइमों की सहायता से आक्रांता को बदल कर उसके दंश को बेकार कर सकती है; वह विशेष दुर्धर्ष सैनिकों का निर्माण कर सकती है जो अपने किस्म के प्रोटीन अणुओं की सहायता से आक्रमाणी से तब तक मल्लयुद्ध करते हैं जब तक वह निष्क्रिय नहीं हो जाता।

आइये, इस अनवरत युद्ध में संलग्न कुछ टुकड़ियों का निरीक्षण किया जाय।

किसी भी युद्ध में प्रतिरक्षा का सर्वोत्तम उपाय है शत्रु के प्रवेश को रोकना। शरीर की प्रथम प्रतिरक्षा पंक्ति है दृढ़ त्वचा जो काफी सक्षम होते हुए भी दुर्भाग्य-

वश कुछ स्थलों पर कमज़ोर है। स्वेद-ग्रंथियों के छिद्रों में और बालों के गड्ढों में बैक्टीरिया अपना घर बना लेते हैं जिससे मुहांसे और फोड़े हो जाते हैं। विष और बैक्टीरिया बड़े छिद्रों जैसे मुख, नाक और आँखों में से होकर प्रवेश कर सकते हैं। परन्तु आमाशय, बैक्टीरिया को मूर्ख बनाने वाली युक्ति है क्योंकि उसके रसों में अम्लों का आधिक्य अधिकांश बैक्टीरिया का काम तमाम कर देता है।

यदि कोई मामूली रासायनिक विष शरीर में प्रवेश करता है तो उसका सामना प्रभावकारी ढंग से किया जाता है। प्रतिरक्षात्मक योजना एक सुनिश्चित रणनीति के अनुसार होती है। ऐसे विषों के प्रवेश के लिये सबसे लम्बा रास्ता स्पष्टत: मुख है। रणनीति का प्रथम सिद्धान्त है—यथासम्भव कम से कम जज़्ब करो। जब तक विष भोजन नली में रहता है तब तक वह हमें हानि नहीं पहुँचा सकता। उस लम्बी नली में से गुजरने के दौरान विभिन्न पदार्थ, वास्तव में शरीर के अंग नहीं होते। वे लाभ या हानि तभी पहुँचा सकते हैं जब वे रक्त में या अन्य टिशुओं में प्रवेश पा जायँ।

जज़्ब करते समय उल्लेखनीय रूप में छँटाई होती है। इसके पहले कि कोई पदार्थ टिशुओं में प्रवेश करे, उसे, भोजन-नली की दीवारों पर स्थित कोशिकाओं की पहचान करने वाली जाँच का सामना करना पड़ता है और ये कोशिकाएँ अवांछित पदार्थों को अस्वीकार करने में बला की क्षमता रखती हैं। उदाहरणार्थ, हम कॉलस्टरॉल आसानी से जज़्ब कर लेते हैं परन्तु सिस्टरॉल, जो पौधों द्वारा निर्मित होता है और कास्टरॉल से बहुत अधिक मिलता-जुलता है, बिल्कुल जज़्ब नहीं होता।

यदि विष, भोजन नली के चयनकारी अवरोध को पार कर जाय तो दूसरा आदेश है—इसे बाहर निकालो। गुर्दे की सहायता लो, फेफड़ों या स्वेद-ग्रंथियों की सहायता लो, परन्तु इसे बाहर करो। यह भी एक तरह का चयन है परन्तु विपरीत किस्म का। इसमें अवांछित पदार्थों को चुनकर बाहर निकाल देते हैं।

यदि बाहर निकालने में असफलता मिले तब तीसरा आदेश है—इसे भस्म कर दो ! प्राणियों में विषैले पदार्थों का भविष्य देखने के लिये हम उनका इन्जेक्शन देते हैं। इस तरह हम भोजन नली के भीषण परीक्षण से कन्नी काट जाते हैं। यदि हम किसी जीवधारी की पेशी में बेन्ज़ीन का इन्जेक्शन दें तो उसके अधिकांश भाग का उसके शरीर के एन्ज़ाइमों द्वारा तत्काल आक्सीकरण (अधिकांशत: कार्बन डाइआक्साइड और जल में) हो जाता है और वह विष से छुटकारा पा जाता है।

विषैले पदार्थों को जो एन्ज़ाइम भस्म करते हैं वे केवल आत्मरक्षा के उद्देश्य से नहीं बनाये गये हैं। ये एन्ज़ाइम सदा विद्यमान रहते हैं और प्राय: अपना सामान्य उपापचयन सम्बन्धी आक्सीकरण का कार्य करते रहते हैं। परन्तु यदि

कोई विषैला पदार्थ आ जाता है और एन्ज़ाइमों के कार्य-क्षेत्र में फिट बैठ जाता है तो जीवधारी एन्ज़ाइमों की बहुमुखी क्षमता से लाभ उठाता है।

यह कल्पना करना कठिन है कि जीव ऐसे एन्ज़ाइमों की सहायता से किसी भी विष का सामना कर सकते हैं जो इसी उद्देश्य को ध्यान में रख कर बनाये गये हों। जीवरसायन के विकास में एक ऐसा समय था जब जानवरों को सैकड़ों कार्बनिक यौगिक खिलाये गये ताकि शरीर में उन पर जो प्रतिक्रिया होती है उसका अध्ययन किया जा सके। इनमें से बहुत से पदार्थ ऐसे थे जिन्हें उत्साही कार्बनिक रसायनशास्त्रियों ने पहले पहल बनाया था और विश्व में इससे पहले उनका अस्तित्व नहीं था। फिर भी, यद्यपि जानवर का अपने सारे विकासीय इतिहास में इन पदार्थों से कभी साबका नहीं पड़ा था, उसने तत्काल या तो उनका आक्सीकरण कर दिया या उनकी संरचना को परिवर्तित कर दिया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान यह सूचना मिली थी कि जर्मनी डिसोप्रापिल-फ्लुरो-फास्फेट नामक एक पदार्थ बड़े पैमाने पर बना रहा है। (रसायनशास्त्री भी उसे डी० एफ०पी० कहते हैं)चूंकि डी० एफ०एल० से लकवा की बीमारी हो जाती है, इस बात की आशंका थी कि नाज़ी कहीं इसका उपयोग तंत्रिका गैस के रूप में न करें। इसलिये रासायनिक युद्ध सेवा की चिकित्साविषयक शाखा द्वारा इसका गहरा अध्ययन किया गया। उस सेवा के एक जीवरसायन शास्त्री डा० ए० मज़ूर को खरगोश के जिगर में एक एन्ज़ाइम मिला जो डी० एफ० पी० के टुकड़े-टुकड़े कर देता है। अब ध्यान देने की बात यह है कि प्रकृति में डी० एफ० पी० नहीं मिलता और निस्सन्देह उसका अस्तित्व कभी नहीं रहा है। यदि हिटलर न होता तो किसी खरगोश का, डी० एफ० पी० से यह अप्रिय परिचय न हुआ होता। फिर भी खरगोश में ऐसे एन्ज़ाइम हैं जो इस असाधारण विष को नष्ट कर सकते हैं।

इस बात का एक और प्रमाण है कि ये तथाकथित विष-निवारण क्रियाएँ अव्यवस्थित ढंग से होती हैं। एन्ज़ाइम द्वारा परिवर्तित हो जाने पर विष कभी-कभी और अधिक विषैला हो जाता है। सल्फानिलैमाइड के विलायक एथिलीन ग्लाइकॉल पर होने वाली प्रतिक्रिया, इसका एक अच्छा उदाहरण है।

एथिलीन ग्लाइकॉल (पाठक इसे एक जमावरोधी के रूप में समझ सकते हैं।) एक ऐल्कोहल है। बहुत से ऐल्कोहल विषैले हैं—यहाँ तक कि एथिल ऐल्कोहल भी, जो उन सबमें सबसे कम विषैला है, काफी खतरनाक सिद्ध हो सकता है। आइये, थोड़ी देर एथिलीन ग्लाइकाल से ध्यान हटाकर हम शरीर में एथिल ऐल्कोहल का पीछा करें।

यदि कोई व्यक्ति अपने वज़न के प्रति पौण्ड पर एक औंस का दसवां भाग २०० प्रूफ ऐल्काहल जल्दी-जल्दी पी जाय तो वह घातक सिद्ध हो सकता है। दूसरे शब्दों में यदि १५० पौंड वज़न वाला आदमी १५ औंस २०० प्रूफ ऐल्कोहल

जल्दी-जल्दी से गटक जाय तो मूर्छा से उसके फिर जगने की सम्भावना बहुत ही कम है। (कई कारणों से प्रयोग के परिणाम के बारे में बिल्कुल ठीक भविष्यवाणी करना सम्भव नहीं है। इन कारणों में से एक है उसके स्वास्थ्य की स्थिति और दूसरा है ऐल्कोहल सेवन सम्बन्धी उसका पूर्व अनुभव।)

ऐल्कोहल, कोशिकाओं के भीतर श्वसन का निरोध कर, अपना विषैला प्रभाव उत्पन्न करते हैं। जो लक्षण ऐल्कोहल के नशे में धुत व्यक्ति में पाये जाते हैं वे बिना एक बूंद ऐल्कोहल के कभी शराब न पीने वाले सात्विक आदमी में भी पैदा किये जा सकते हैं। इसके लिये सिर्फ उस वायुमंडल में आक्सीजन की सघनता कम करने की आवश्यकता है जिसमें वह आदमी साँस लेता है। आक्सीजन की कमी कोशीय श्वसन को सीमित कर देगी और श्वसन में कमी के बाहरी लक्षण एक जैसे होंगे, चाहे वह कमी निरोधक के कारण उत्पन्न हो, चाहे आक्सीजन की कमी के कारण।

आक्सीजन की कमी से उत्पन्न प्रभाव का बहुत गहन अध्ययन किया गया है क्योंकि वायुयान चालकों की कार्यक्षमता पर इसका बहुत प्रभाव पड़ता है बशर्ते कि वे बोतल में बंद आक्सीजन का इस्तेमाल न करें। (१२००० फुट ऊँचाई पर समुद्र तल की अपेक्षा वायुमंडलीय आक्सीजन एक-तिहाई होती है।) इस दिशा में आरम्भिक कार्य करने वाले अंग्रेज-शरीर-शास्त्री जोसफ बार्क्राफ्ट ने बताया कि ऊंची उड़ान करते समय ऐसी भावात्मक प्रतिक्रियाएँ होती हैं जो ऐल्कोहल की अत्यधिक मात्रा पीने के बाद होने वाली प्रतिक्रियाओं से मिलती-जुलती हैं। यानी उदासी, उदासीनता, ऊँघना या उत्तेजना; आह्लाद; और आत्म-नियंत्रण का सामान्य अभाव। "बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के आदमी गाने लग सकता है या रोने या अत्यन्त झगड़ालू, आलसी और दुस्साहसी हो सकता है।" द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान ऊँची उड़ान वाले बमवर्षकों के कुछ वायुयान चालक वापसी यात्रा में आक्सीजन के थैलों को हटा देते थे ताकि वे जल्दी से पिछले प्रभाव से मुक्त हो जाएँ।

शरीर के अन्दर सब ऐल्कोहलों पर एक जैसी प्रतिक्रिया होती है। उनका धीरे-धीरे आक्सीकरण होता है। एथिल ऐल्कोहल के मामले में, आक्सीकरण के दौरान मध्यवर्ती क्रिया है ऐसिटिक अम्ल का निर्माण जो शरीर का सामान्य संघटक है। ऐसिटिक अम्ल के ऑक्सीकरण द्वारा कार्बन डाइआक्साइड और जल बन सकता है या शरीर के और अधिक जटिल संघटकों को एकत्र करने के लिये उसका ईंट की तरह इस्तेमाल हो सकता है। अतः वास्तव में ऐल्कोहल एक आहार है। निश्चय ही वह एक सीमित आहार है क्योंकि शर्करा की तरह इसमें भी प्रोटीन, विटामिन और खनिज पदार्थ नहीं होते।

जिस तरह ऐल्कॉहल के आक्सीकरण से पहले एक अम्ल बनता है, उसी तरह एथिलीन ग्लाइकॉल के आक्सीकरण से भी एक अम्ल बनता है। परन्तु यह अम्ल, आक्सैलिक एक घातक विष है। जिन ऐंजाइमों के द्वारा इसका आक्सीकरण होता है वे शीघ्र प्राणी को मौत के घाट उतार देते हैं। इस मामले में यह कहीं बेहतर होगा कि ये ऐंज़ाइम चुपचाप पड़े रहें और ऐथिलीन-ग्लाइकाल को न छेड़ें। यदि ऐसा हो तो सम्भव है प्राणी फेफड़ों और गुर्दों में से विष को धीरे-धीरे बाहर निकाल दे और यदि ग्लाइकाल की मात्रा अधिक न हो तो शायद बच जाय। परन्तु इससे भी अल्पतर मात्रा का कहीं आक्सीकरण हो गया तो मृत्यु निश्चित है।

ऐसा प्रतीत होता है कि बैक्टीरियायी शत्रुओं के विरुद्ध संघर्ष का उद्देश्य केवल यह नहीं है कि मामूली विषैले पदार्थों से निबटा जाय बल्कि उससे कहीं बड़ा है। परन्तु आयोजित प्रतीत होने वाला यह अभियान भी उससे कहीं अधिक अव्यवस्थित हो सकता है जितना कि वह प्रतीत होता है। बैक्टीरियायी विष या तो प्रोटीन होते हैं या अन्य जटिल अणु। हमारी वर्तमान जानकारी ऐसी नहीं है कि हम उन गूढ़ प्रक्रियाओं को समझ सकें जिनके द्वारा इन विषों का शमन होता है। हम तो केवल अन्तिम परिणाम को देख पाते हैं और वह बहुत ही उद्देश्यपरक प्रतीत होता है।

शरीर के वे भाग जैसे रक्त तथा विभिन्न अन्य टिशू, जो सामान्यतः बाह्य जगत् के सम्पर्क में नहीं होते, बैक्टीरिया से मुक्त होते हैं। उस तरह से स्थैतिक अवस्था में नहीं जिस तरह से उबाला हुआ दूध बोतल के अंदर बैक्टीरिया मुक्त होता है, बल्कि गत्यात्मक रूप में मुक्त होता है। यदि बैक्टीरिया आन्तरिक टिशुओं में घुस जाय तो आक्रमणात्मक प्रतिरक्षा के लिये सन्नद्ध प्रचण्ड सैनिक टुकड़ियाँ यानी रक्त की सफेद कोशिकाएँ उनपर धावा बोल देती हैं। लाल कोशिकाओं की अपेक्षा उनकी संख्या कम होती है और जैसा कि उनके नाम से स्पष्ट है उनमें लाल हीमाग्लाबिन नहीं होता। उसकी जगह उनमें एक विशेष उपकरण होता है—ऐन्ज़ाइम। सफेद कोशिकाएँ अपने टिशुओं के सूक्ष्म धागे फैलाकर बैक्टीरिया को घेर लेती हैं। एक बार फंस जाने पर बैक्टीरिया असहाय हो जाते हैं क्योंकि सफेद कोशिकाओं से निकलने वाले ऐंज़ाइम उनके टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं।

आक्रमणकारी शत्रुओं के विरुद्ध संघर्ष के लिये, गर्दन पर हुआ फोड़ा एक आम युद्धभूमि है। कुछ अणुजीव एक बाल की जड़ में घर बना लेते हैं और वहाँ भोजन, गर्मी और आराम की सुविधा पाकर बढ़ने लगते हैं। शरीर की स्थैतिक प्रतिरक्षा में हुई इस घुस-पैंठ के विरुद्ध पहली प्रतिक्रिया यह होती है कि वह स्थल फूल जाता है और लाल हो जाता है। कोशिकाएँ फैल जाती हैं जिससे वहाँ

रक्त अधिक मात्रा में पहुँचने लगता है। रक्त के द्रव उस स्थल पर इकट्ठा होकर उसे जेली जैसे द्रव्य का रूप दे देते हैं। इस द्रव्य के चारों ओर रेशेदार टिशुओं का एक अवरोध बन जाता है जो संक्रमण को शरीर के शेष भाग से पृथक् करता है। इस बीच सफेद कोशिकाएँ युद्धभूमि में आती रहती हैं और कोशिकाओं की दीवारों में से बाहर निकल कर वे संक्रामक जीवों पर टूट पड़ती हैं। अगर कोई गड़बड़ी नहीं होती तो इस युद्ध में आक्रमणकारी बैक्टीरिया मारे जाते हैं वर्ना संक्रमण फैलता है और संक्रमण के प्रत्येक स्थल पर इस युद्ध की पुनरावृत्ति होती है। सफेद कोशिकाएँ श्री चर्चिल द्वारा शानदार ढंग से व्यक्त की गयी रणनीति को चरितार्थ करती हैं। रक्त-धारा में जीवाणु जहाँ भी पहुँचें वहां उनपर धावा बोला जाय और उनसे घोर युद्ध किया जाय। संक्रमण के व्यापक रूप से फैल जाने पर सफेद कोशिकाओं को, जिगर, तिल्ली और अस्थि-मज्जा कोशिकाओं के फैगासाइटों से बहुत सहायता मिलती है। (ये वहीं कोशिकाएँ हैं जो सठियाते हुए लाल कणों को ठिकाने लगाती हैं।) यदि प्रतिरक्षा में संलग्न उपर्युक्त शक्तियाँ कमजोर पड़ती हैं और कई जगह पर हो रहे युद्ध में बैक्टीरिया विजयी होने लगते हैं तो शरीर की दूसरी रक्षा-पंक्ति सक्रिय हो जाती है, परन्तु प्रत्येक प्रकार के आक्रमणकारी जीवाणु के विरुद्ध नहीं।

यह बहुत दिनों से मालूम रहा है कि कुछ ऐसी बीमारियाँ हैं जिनसे यदि आदमी बच जाय तो उसे दुबारा वह बीमारी शायद ही फिर कभी होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले आक्रमण ने उसको एक रसीद दे दी हो कि उसने अपना कर चुका दिया है और अब कर उगाहने वाला फिर उसके पास नहीं आयेगा।

भारत में दो हजार वर्ष पूर्व वैद्यों द्वारा चेचक की मामूली बीमारी आदमी में पैदा की जाती थी ताकि उसके भीषण आक्रमण से बचाव हो सके। मामूली बीमारी वाले आदमी से पस (पीप) निकाल कर उसे वे स्वस्थ मनुष्य के शरीर पर किये गये खरोंच में मलते थे। चेचक से बचाव के लिये टीका लगाने की प्रथा पूर्व में जारी रही परन्तु यूरोप में इसका आरम्भ केवल १७१८ में लेडी मैरी वर्टले मान्टेगू द्वारा किया गया। वे कुस्तुन्तुनिया में नियुक्त ब्रिटिश राजदूत की पत्नी थीं। उन्होंने टर्की के एक चिकित्सक से अपने पुत्र को टीका लगवाया। चूँकि यह बीमारी बहुत प्रचलित थी इसलिये लोगों ने साहसी राजदूत पत्नी क उदाहरण का अनुसरण किया और चेचक से बचाव के लिए टीका लगाने की प्रथा बहुत व्यापक हो गई। मध्य युग में चेचक के दाग से मुक्त होना सुन्दरता का चिह्न माना जाता था। अतः आश्चर्य क्या यदि लोग टीका लगवाने के लिये उत्सुक रहते थे, यद्यपि परिणाम के विषय में भविष्यवाणी करना सम्भव नहीं था।

संयोग से इस बीमारी से बचने का उतना ही सक्षम परन्तु उससे अधिक सुरक्षापूर्ण तरीका मालूम हो गया।

गायों को भी चेचक होता है। अंग्रेज किसान जानते थे कि गो चेचक छूत वाली बीमारी है और ग्वालिनों तथा गायों से सम्पर्क रखने वाले अन्य लोगों को यह मामूली बीमारी हो जाने का खतरा होता है। यह नहीं मालूम कि यह बात सर्वप्रथम किसने नोट की कि जिसको एक बार यह मामूली बीमारी हो जाती है उसे भीषण चेचक नहीं होता। इस बुद्धिमत्तापूर्ण और अत्यन्त लाभदायक परस्पर सम्बन्ध को मालूम करने का श्रेय कुछ अंग्रेज किसानों को दिया जाता है। परन्तु प्राचीन या अर्वाचीन आविष्कारों की प्राथमिकता विषयक बहस से कोई लाभ नहीं होता। आविष्कर्ता के दम्भ से कहीं बढ़कर आविष्कार का महत्त्व है। यह निश्चित है कि डॉ० एडवर्ड जेनर ने विश्वसनीय प्रमाणों से तथ्यों को स्थापित किया और यह दिखाया कि इस सांयोगिक आविष्कार से किस तरह लाभ उठाया जा सकता है। चूँकि गो-चेचक को वैरियोल वैक्सीन कहते थे इसलिये चेचक से बचाव के उद्देश्य से गो-चेचक के पस का टीका लगाने को वैक्सिनेशन कहा जाने लगा।

चेचक से बचाव का वैक्सिनेशन एक व्यापक और सक्षम तरीका हो गया। परन्तु जिस प्रक्रिया के कारण बचाव होता है वह अज्ञात रहा। पास्चर-पूर्व उन दिनों में संक्रामक बीमारियों तक का कारण नहीं मालूम था। पास्चर ने सिद्ध किया कि कुछ बीमारियों को उत्पन्न करने वाले तथा उनसे बचाने वाले संक्रामक कारण एक ही हैं। उन्होंने इस सत्य की स्थापना एक प्रसिद्ध सार्वजनिक वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा की।

ऐन्थ्रैक्स, यूरोप के पशुओं का विनाश बड़े पैमाने पर कर रहा था। पास्चर ने पता लगाया कि इस बीमारी के जनक वे दण्डाकार सूक्ष्म बैसिली हैं जो बीमार पशुओं के रक्त में अत्यधिक संख्या में पाये जाते हैं। उसने यह भी मालूम किया कि यदि इन बैसिली को कुछ देर के लिये शरीर ताप से काफी ऊँचे ताप पर रखा जाय तो उनकी विनाश क्षमता कम हो जाती है। (अधिकांश बैक्टीरिया अपने अतिथि जानवरों की गर्मी के इतना आदी हो गये हैं कि वे उस ताप पर बहुत अच्छी तरह से रहते हैं, भले ही वे स्वयं उस ताप को कायम न रख सकें।) उच्च ताप पर रखे गये जीवाणुओं को जब इंजेक्शन दिया गया तब जानवर नहीं मरे। वे सिर्फ बीमार पड़ गये। परन्तु ऐन्थ्रैक्स के इस मामूली आक्रमण से जब वे अच्छे हुए तब वे भयंकर जीवाणुओं का सामना करने में समर्थ थे। ऐन्थ्रैक्स की जो मात्रा अरक्षित जानवरों के लिये घातक होती वह टीका लगा कर रक्षित किये गये जानवरों का कुछ न बिगाड़ सकी।

जब परम्परानिष्ठ चिकित्सकों ने पास्चर के इस दावे का मजाक उड़ाया तब पास्चर ने एक सार्वजनिक प्रदर्शन की व्यवस्था की जो एक देहाती मेले की सारी विशेषताओं से युक्त था। वैज्ञानिक, चिकित्सक, उच्च पदाधिकारी और संवाददाता एक मैदान में एकत्र हुए जहाँ पचास भेड़ें, बैक्टीरियायी द्रव की कुछ बोतलें और पास्चर, आकर्षण के केन्द्र थे। पास्चर के सहायकों ने पच्चीस भेड़ों को, गर्मी से कमजोर किये गये बैक्टीरिया का टीका लगाया। बारह दिन बाद उन्हीं भेड़ों को ऐसे बैसिली की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा का टीका दिया गया जिन्हें गर्मी द्वारा उतना कमजोर नहीं किया गया था जितना पहले बैसिली को। इस टीका के बाद भी वे जीवित रहीं। अंत में सब भेड़ों को, जिनमें वे पच्चीस भेड़ें भी शामिल थीं जिन्हें अभी तक नहीं छेड़ा गया था, ऐन्थ्रेक्स का घातक टीका दिया गया। दो दिन बाद अरक्षित भेड़ों में से बाइस मर गयीं और बाकी तीन अंतिम सांसें ले रहीं थीं जब कि गर्मी से कमजोर किये गये बैसिली द्वारा रक्षित भेड़ों में से प्रत्येक मजे से घास चर रही थी।

इस प्रकार पास्चर ने केवल यही नहीं सिद्ध कर दिया कि संक्रामक बीमारियाँ जीवाणुओं से उत्पन्न होती हैं बल्कि यह भी सिद्ध कर दिया कि ये जीवाणु प्राणी को इस योग्य बना देते हैं कि वे अपनी रक्षा कर सकें और ऐसे अस्त्रों का निर्माण कर सकें जो भावी आक्रमणों को विफल बना दें। (यह सच है कि आज हम जानते हैं कि सब संक्रामक बीमारियाँ जीवाणुओं से उत्पन्न नहीं होतीं। कुछ, जिनमें चेचक भी शामिल है, विषाणुओं (वाइरसों) द्वारा उत्पन्न होती हैं। परन्तु पास्चर की मृत्यु के कई साल बाद विषाणुओं का पता लगा।)

कमजोर किये गये ऐन्थ्रैक्स बसिली की सहायता से पास्चर को जो चमत्कारी सफलता मिली उसके बहुत समय बाद तक यह मालूम नहीं हो सका कि बचाव करने वाले शस्त्र क्या हैं!

ऐलर्जी भी, जिससे हममें से बहुत से परेशान रहते हैं, जीवाणुओं से हमारी रक्षा करती है। त्वचा या गले की बीमारियाँ, छींक, कुछ प्रकार के खाद्य पदार्थों से दूर रहने की आवश्यकता आदि मामूली कीमतें हैं, जिन्हें चुका कर हम संक्रामक बीमारियों का सामना करने के लिये शस्त्र हासिल करते हैं क्योंकि जिस प्रक्रिया के कारण हम ऐलर्जी के शिकार होते हैं उसी से हमें बीमारी से अपना बचाव करने की क्षमता भी प्राप्त होती है।

ऐलर्जी का अर्थ है "परिवर्तित प्रतिक्रिया।" यदि गिनी पिग में हम मुर्गी के अंडे की सफेदी का इंजेक्शन दें तो कोई खास बात नहीं होगी। परन्तु कुछ समय बाद यदि हम उसी गिनी पिग में अंडे की सफेदी की उतनी ही मात्रा का इंजेक्शन दें तो बहुत भीषण प्रतिक्रिया होगी। गिनी पिग बहुत मुश्किल से सांस ले पायेगा, लड़खड़ाने लगेगा और अंत में मूर्च्छित हो जायेगा और इस मूर्च्छा से वह

जगेगा या नहीं, यह बात इस बात पर निर्भर है कि उसे सफेदी की कितनी मात्रा का इंजेक्शन दिया गया था। गिनी पिग में एक परिवर्तित प्रतिक्रिया होती है यानी अंडे की सफेदी के दूसरे इंजेक्शन के प्रति उसे ऐलर्जी हो जाती है।

प्राणी अपने टिशुओं में बाहरी प्रोटीनों के प्रवेश का विरोध करते हैं। जिन प्रोटीनों को हम खाते हैं वे सामान्यतः हमारे टिशुओं में ज्यों-के-त्यों प्रवेश नहीं करते। पाचन नली के ऐन्ज़ाइमों द्वारा वे ऐमिनो अम्लों में विघटित कर दिये जाते हैं और केवल ऐमिनो अम्ल ही हमारे टिशुओं में प्रवेश कर पाते हैं। जज्ब किये हुए ऐमिनो अम्लों से हम अपने प्रोटीनों जैसे प्रोटीन अणु बनाते हैं। (उन रोगियों के टिशुओं में जो ऐलर्जियों के शिकार होते हैं, बाहरी प्रोटीनों की अल्प मात्राओं का प्रवेश हो जाता है।) अतः यदि किसी प्राणी के टिशुओं में किसी बाहरी प्रोटीन का प्रवेश हो जाय तो इसका अर्थ होगा किसी अपरिचित का घर में घुस आना। यह अपरिचित, केवल बाहरी प्रोटीन अणु हो सकता है या बाहरी प्रोटीनों वाला समूचा जीवाणु हो सकता है। इन दोनों खतरों के विरुद्ध प्राणी की प्रतिक्रिया एक जैसी होती है। वह प्रचण्ड सैनिकों या ऐन्टीबाडियों का निर्माण करने लगता है ताकि वह आक्रमणकारियों का काम तमाम कर सके।

ऐन्टीबाडी, विभिन्न तरीकों से आक्रमणकारियों का काम तमाम करते हैं। वे बैक्टीरिया की कोशिका-दीवारों को घुला सकते हैं जिससे वे सूक्ष्म दानव निचुड़ कर खतम हो जाते हैं। या वे अपनी उपस्थिति मात्र से सफेद कोशिकाओं की क्षमता बढ़ा देते हैं। अंत में वे अनधिकार प्रवेश करने वाले जीवाणु या प्रोटीन, जिसे ऐन्टीजन कहते हैं, के साथ मिलाकर एक न घुलने वाला कण बनाते हैं। इस तरह जब बाहरी द्रव्य पकड़ में आ जाता है तब सफाई करने वाली सफेद कोशिकाएँ और बड़े फैगासाइट इत्मीनान के साथ उसको घुलाते हैं।

उदाहरण के लिये उस गिनी पिग के रक्त में जिसे अंडे की सफेदी का इंजेक्शन दिया गया हो, एक ऐन्टीबाडी प्रकट होता है। उसे यदि ताज़े अंडे की सफेदी के घोल में डाला जाय तो वह उसे जमा देता है। दूसरे इंजेक्शन से गिनी पिग में जो भीषण लक्षण प्रकट होते हैं उनका कारण यह है कि गिनी पिग में प्रस्तुत ऐन्टीबाडी, अंडे की सफेदी को जमा देते हैं।

ऐन्टीबाडी अद्भुत रूप से विशेषता युक्त होते हैं। इस गिनी पिग के रक्त का ऐन्टी बाडी, बत्तख या हंस के अंडे की सफेदी को उतनी अच्छी तरह से नहीं जमायेगा जितना मुर्गी के अंडे की सफेदी को। यह समझना आसान है कि ऐन्टीबाडी की यह बला की विशेषता क्यों अनिवार्य है। प्राणी यदि ऐसे ऐन्टीबाडी उत्पन्न करे जो किसी भी प्रोटीन को जमा दें तो वह घोर विपत्ति में पड़ जायेगा क्योंकि ऐसे ऐन्टीबाडी, प्राणी के अपने ही प्रोटीन को जमा सकते हैं।

ऐन्टीबाडी का इस तरह से विशेषता युक्त होना बड़े काम की बात है। हम एक मजबूत घोड़े द्वारा, डिफ्थेरिया के विरुद्ध बनाये गये ऐण्टीबाडी का इंजेक्शन किसी बच्चे को देकर उसे डिफ्थेरिया से बचा सकते हैं। या हम बता सकते हैं कि किसी कपड़े पर भूरा दाग बैल के रक्त के कारण है, या आदमी के रक्त के कारण। यदि दाग को घोलकर ऐसे गिनी पिग के सीरम में मिलाने से जिसे मानव रक्त का इंजेक्शन दिया गया हो, एक अवक्षेप बन जाय तो यह इस बात की पहचान है कि दाग मानव रक्त का था।

ऐण्टीजन और ऐण्टीबाडी की परस्पर प्रतिक्रिया, जिसे बचाव रसायन कहते हैं, विषयक हमारा ज्ञान इतना अधिक है कि उसके बारे में बहुत सी पुस्तकें लिखी गयी हैं। परन्तु इस विषय में हमारा ज्ञान बहुत सीमित है कि ऐण्टीबाडी कैसे बनते हैं। यदि सीधे ढंग से कहें तो समस्या यह है—यह कैसे सम्भव होता है कि एक प्रोटीन अणु, ऐन्टीजन दूसरे प्रोटीन अणु ऐन्टीबाडी के निर्माण में सहायक होता है और दोनों मिलकर एक न घुलने वाला दही बनाते हैं जबकि उनमें से प्रत्येक स्वयं बहुत घुलनशील है? इसके पहले कि हम इसका उत्तर दें, हमें जीवरसायन की कुछ महत्त्वपूर्ण पहेलियों का उत्तर मालूम होना चाहिये। प्रोटीन अणु की अत्यधिक विशिष्ट संरचना कोशिका के भीतर किस प्रकार व्यवस्थित होती है। वह व्यवस्था गत्यात्मक क्रिया का रूप कैसे धारण करती है जिससे एक जैसे प्रोटीन अणु निर्मित होते हैं? इन प्रश्नों का उत्तर मालूम हो जाने पर हम इस समस्या के समाधान का प्रयत्न कर सकते हैं कि एक बाहरी प्रोटीन का अणु, कोशिका को एक बिल्कुल नया बचाव करने वाला ऐसा अणु बनाने के लिये किस तरह प्रेरित करता है जिसकी संरचना ऐसी होती है कि वह बाहरी प्रोटीन से मिलकर एक न घुलने वाला पदार्थ बनाता है और इस तरह उसे बेकार कर देता है। प्रोटीन संश्लेषण के बारे में हमें जो कुछ मालूम है उसका वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा।

हम यह पहले देख चुके हैं कि शरीर निरन्तर परिवर्तन की अवस्था में रहता है। टिशू निरंतर टूटते रहते हैं और पुनः निर्मित होते रहते हैं। आज हमारे प्रोटीनों में जो ऐमिनो अम्ल हैं वे कल नहीं रहेंगे और उनका स्थान भोजन से प्राप्त नये ऐमिनो अम्ल ले लेंगे। क्या ऐन्टीबाडी इस निरंतर हो रहे विघटन और नव निर्माण के अपवाद हैं। हमें यह मालूम है कि उस संक्रमण के समाप्त हो जाने पर भी जिससे वे उत्पन्न हुए थे, वे बने रहते हैं। सच तो यह है कि कभी-कभी वे सारे जीवन-काल तक बने रहते हैं। क्या निरन्तर बदलते हुए शरीर समुद्र में, ऐन्टीबाडी स्थायी द्वीप हैं?

सर्वश्रेष्ठ बचाव रसायन शास्त्री डॉ० माइकेल हीडल बर्गर ने स्वर्गीय डॉ० रडाल्फ शोयनहीमर के सहयोग से इस प्रश्न का उत्तर मालूम किया। उन्होंने

मालूम किया कि ऐन्टीबाडी शरीर के अन्य प्रोटीनों से भिन्न नहीं हैं। उनका भी निरन्तर निर्माण और विघटन होता रहता है। दूसरे शब्दों में मूल संक्रमण के समय ऐन्टीबाडी उत्पन्न करने के लिए जो प्रक्रिया अस्तित्व में आती है, वह कभी वर्षों तक और कभी जीवन-पर्यन्त अपना काम करती रहती है। तो हमें यह तो मालूम है कि प्रक्रिया काम करती रहती है परन्तु वह प्रक्रिया क्या है, यह हमें नहीं मालूम है।

यद्यपि बचाव विद्या विषयक असमाधेय प्रश्नों पर मैंने बहुत ज़ोर दिया है परन्तु वास्तव में इस क्षेत्र की व्यावहारिक उपलब्धियाँ अनेक हैं। एन्टीजन-ऐन्टी-बाडी प्रतिक्रिया के अध्ययन से प्राप्त ये फल हैं--अनेक प्रकार की बचाव-क्रियाएँ, मानव-रक्त का विभिन्न वर्गों में वर्गीकरण, ताकि एक आदमी का रक्त दूसरे आदमी को सुरक्षित रूप में दिया जा सके, रक्त की कुछ बूँदों के परीक्षण द्वारा बीमारियों, जैसे सिफिलिस का निदान, ऐलर्जियों की चिकित्सा। परन्तु इन उपलब्धियों का वर्णन औरों पर छोड़ा जा सकता है। हम में से कुछ को ज्ञात की अपेक्षा अज्ञात कहीं अधिक आकर्षक है।

बैक्टीरियायी युद्ध शब्द का पिछले दिनों काफी प्रयोग किया गया है। निश्चय ही इससे यह अभिप्राय है कि युद्ध में शस्त्रों के रूप में बैक्टीरिया या उनके विषों का प्रयोग होगा। परन्तु पृथ्वी पर मनुष्य और उसके क्षुद्र युद्धों के अवतीर्ण होने से लाखों वर्ष पूर्व से बैक्टीरिया बड़े पैमाने पर युद्ध करते रहे हैं। बड़े पैमाने पर हत्या की कला में मनुष्य अभी बिल्कुल नवसिखुआ है। अगर एक परमाणु बम से हमने एक लाख आदमी मार दिये तो कौनसी बड़ी बात की? 'हाइड्रोजन बम' कहने में जितना समय लगता है उससे कम समय में मुट्ठी भर मिट्टी में करोड़ों बैक्टीरिया मरते रहते हैं और इसके लिये जो शस्त्र इस्तेमाल किये जाते हैं वे हमारे शस्त्रों से कम कौशलपूर्ण नहीं होते।

उस मुट्ठी भर मिट्टी में उससे कहीं अधिक जीवाणु हैं जितने पृथ्वी पर मनुष्य हैं। उस मुट्ठीभर संसार में जीवन बहुत विकट है। वहां भोजन की कमी है। जीवन के लिये हो रहा युद्ध बहुत भीषण है। कुछ जीवाणु इस युद्ध में अपने प्रतियोगियों के विरुद्ध विशेष रूप से सुसज्जित होते हैं। वे अपने चारों ओर एक विषैला घोल फैलाते हैं। विषैले अणुओं से युक्त क्षेत्र में कोई दूसरा जीवाणु प्रवेश नहीं कर सकता और न वहाँ जी सकता है। केवल विषैले शस्त्र वाले जीवाणु ही इस क्षेत्र में फल-फूल सकते हैं।

यह कहना अनावश्यक है कि सर्वप्रथम पास्चर ने इस सूक्ष्म रासायनिक युद्ध का निरीक्षण किया। ऐन्थ्रैक्स बैसिली के एक समूह का, जिसका वर्णन पीछे किया जा चुका है, बढ़ना रुक गया। पास्चर ने इस सामूहिक संहार का उत्तर-दायित्व उन जीवाणुओं पर रखा जो वायु से बैक्टीरिया वाले घोल में आगये थे।

उस प्रतिभाशाली वैज्ञानिक के मस्तिष्क-उद्यान में यह सांयोगिक निरीक्षण एक सपने का बीज बन गया। उन्होंने यह कल्पना की कि बीमारी करने वाले जीवाणुओं के शत्रुओं को या उनके द्वारा उत्पन्न पदार्थों को रोगी के शरीर में प्रवेश करा कर उन जीवाणुओं का संहार किया जा सकता है। उन्होंने १८७७ में लिखा कि ऐसी योजनायें "चिकित्सा-विषयक उच्चतम आशाओं का औचित्य सिद्ध करती हैं।"

उस स्वप्न के सत्य होने में साठ वर्ष लगे। उन वर्षों में ऐसी छोटी घटनाएँ घटीं जिन्होंने उस स्वप्न को जीवित रखा। १८८५ में कैन्टनी ने बीमारी न पैदा करने वाले एक प्रकार के जीवाणुओं को, सांस द्वारा एक तपेदिक से ग्रस्त स्त्री के भीतर प्रवेश करा कर उसे अच्छा करने का प्रयत्न किया। यह उपाय काफी सफल प्रतीत हुआ। (हो सकता है तपेदिक के वैसे ही अच्छा होने का वह सामान्य मामला रहा हो।) कुछ भी हो इस उपाय का अनुसरण नहीं किया गया।

परन्तु बहुत से बैक्टीरियाशास्त्रियों ने, कुछ जीवाणुओं की एक दूसरे के प्रति घातक शत्रुता का निरीक्षण जारी रखा। उस जल से, जो मिट्टी से छन कर आता है, रोगोत्पादक जीवाणुओं का लुप्त हो जाना एक सुपरिचित तथ्य हो गया।

एक प्रकार के जीवाणु से दूसरे प्रकार के जीवाणु के नष्ट होने को ऐन्टी-बायोसिस कहा जाने लगा। इस शताब्दी के आरम्भ में सर्वप्रथम ऐन्टीबायोटिक यानी एक जीवाणु को मारने के लिये दूसरे जीवाणु से निकाला गया पदार्थ बनाया गया परन्तु वह सफल सिद्ध नहीं हुआ।

एक सफल ऐन्टीबायोटिक के निर्माण का श्रेय रॉकफेलर संस्थान के बैक्टी-रिया शास्त्री डॉ० रेने जे० ड्यूबॉस तथा उनके सहयोगी रसायनशास्त्री डॉ० आर० डी० हॉचकिस को है। दुर्भाग्यवश, यद्यपि उसका ऐन्टीबायोटिक बैक्टी-रिया के विरुद्ध बहुत प्रभावकारी है परन्तु इंजेक्शन देने से रोगी पर इसका काफी विषैला प्रभाव पड़ता है। ऊपरी उपयोग के अलावा व्यापक रूप में इसका इस्तेमाल नहीं होता और जनता ने उसका स्वागत नहीं किया है जैसा होना चाहिये।

ऐन्टीबायोटिकों की तलाश के लिये ड्यूबॉस का कार्य एक नमूना है। उसने चुटकी भर मिट्टी ली और उसे एक कांच की तश्तरी पर छिड़का जिसपर बैक्टी-रियायी आहार की एक पतली तह थी। उसने बैक्टीरिया की भिन्न जातियों को पृथक् किया और उन्हें अलग-अलग रखा और प्रत्येक के लिये पर्याप्त आहार की व्यवस्था की। उनकी दावत करने के बाद ड्यूबॉस ने उनसे काम लेना शुरू किया। उसने उन रोगोत्पादक जीवाणुओं, स्टैफिलोकोसाई के वर्धमान घोल को जो फोड़ों को जन्म देते हैं, मिट्टी वाले बैक्टीरिया की प्रत्येक बस्ती में रखा। मिट्टी वाले बैक्टीरिया की एक जाति ने स्टैफिलोकोसाई को अपने आहार का

भागी बनाने से इनकार कर दिया। इस बैक्टीरिया से कोई ऐसा द्रव्य निकलता है जो प्रतियोगी जीवाणुओं को नष्ट कर देता है।

उस ऐन्टीबायोटिकके पृथक्करणमें, जिसे बाद में ग्रैमिसिडिन कहा गया, ऐसी खोजों के सामान्य पैटर्न का अनुसरण किया गया। विषवाहक बैक्टीरिया को बड़े-बड़े समूहों में पाला गया और उनके रस से ऐन्टीबायोटिक को गाढ़ा किया गया। इसके लिये खोज के विभिन्न चरणों पर, स्टैफिलोकोसाई के प्रति संपाकों के बढ़ते हुए विषैलेपन ने मार्ग-दर्शक का काम दिया। यह काम १९३९ में पूर्ण हुआ। परन्तु इन्जेक्शन देने पर यह प्राणियों के लिये काफी विषैला सिद्ध हुआ। फिर भी खुले हुए संक्रमणों के इलाज के लिये यह बहुत उपयोगी है। परन्तु इससे बेहतर दूसरे ऐन्टीबायोटिक अभी आने वाले थे।

रट्गर्स के डॉ० सेल्मन वैक्समन ने, जो पहले डॉ० ड्यूबॉस के परामर्शदाता थे, स्ट्रेप्टोमाइसीन को बैक्टीरिया से प्राप्त किया। शिष्य के चरण-चिह्नों पर गुरु के चलने का एक यह विरल उदाहरण है।

वैक्समन ने, मिट्टी के जीवाणुओं के अध्ययन में अपना जीवन खपाया है। कृषि, अर्थ और सौन्दर्य की भी दृष्टि से वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। प्रति वर्ष जंगलों की प्रति एकड़ भूमि पर एक टन पत्तियाँ गिरती हैं। यदि इस मलबे को मिट्टी वाले जीवाणु विघटित न करें, तो बहुत थोड़े समय में पृथ्वी उससे इस तरह ढक जाय कि उसपर रहना कठिन हो जाये। यदि ये जीवाणु न हों, तो मृत पौधों और जानवरों का विघटन नहीं होगा। उनके शरीरों के द्रव्य पुनः उपयोगी रूप में परिवर्तित न हो पाते। हज़ारों वर्ष पूर्व वाले हमारे पूर्वजों के अवशेष ज्यों-के-त्यों बने रहते।

मिट्टी के जीवाणुओं में वैक्समन की दिलचस्पी का कारण था कृषि के लिये उनकी उपयोगिता की सम्भावना। परन्तु ऐसे जीवाणुओं से ड्यूबॉस द्वारा एक ऐन्टीबायोटिक निकाले जाने के बाद वैक्समन ने भी अपने प्रयत्नों को इसी दिशा में लगा दिया। उन्होंने और उनके सहयोगियों ने जिन ऐण्टीबायटिकों को प्राप्त किया, उनमें स्ट्रेप्टोमाइसिन केवल एक है।

और अब पेनिसिलिन के विषय में कुछ बताया जायगा जो अब तक प्राप्त ऐन्टीबायटिकों में सर्वोत्तम है। १९२८ में डॉ० अलेक्ज़ैन्डर फ्लेमिंग की बैक्टीरियायी संवर्धन प्लेट पर, वायु से फफूँदी का बीजाणु आ टपका। डॉ० फ्लेमिंग लंदन के सेंट मैरी अस्पताल में बैक्टीरियाशास्त्री थे। कांच की तश्तरी पर फैले आहार पर बीजाणु का प्रजनन हुआ। बीजाणु के बढ़ने के साथ उसमें से कोई चीज़ निकलने लगी, क्योंकि फफूँदी के चारों ओर एक रोशनी दिखाई दी और उस स्थान से वे स्टैफ़िलोकोसाई लुप्त हो गये जो पहले वहाँ थे। ऐसी घटनाओं

को बीसियों बैक्टीरियाशास्त्रियों ने देखा होगा परन्तु उन्होंने खराब हुई प्लेट को केवल रोगाणुरोधक हौदी में फेंक दिया होगा।

फ्लेमिंग पच्चीस साल से बैक्टीरिया के विरुद्ध युद्ध कर रहे थे। वे उस फफूँदी में दिलचस्पी लेने लगे जो रोगोत्पादक जीवाणुओं की बस्ती में घुसकर आसानी के साथ उनका संहार करने में समर्थ थी। उन्होंने फफूँदी को जीवाणु संवर्धक प्लेटों पर रखा और कई समूहों में उनका संवर्धन किया। उन्होंने फफूँदी रहित जिन रसों को तैयार किया वे भी बैक्टीरिया के लिये घातक थे। चूँकि फफूँदी का नाम पेनिसीलियम था, अतः फ्लेमिंग ने रस में प्रस्तुत बैक्टीरिया नाशक पदार्थ का नाम पेनिसिलिन रखा। फ्लेमिंग ने तत्काल पेनिसिलिन के भावी महत्त्व को समझ लिया। उन्होंने १९२९ में लिखा, "पेनिसिलिन से प्रभावित होने वाले जीवाणुओं से ग्रस्त क्षेत्रों में लगाने के लिये या इंजेक्शन देने के लिये यह एक प्रभावकारी रोगाणुरोधक सिद्ध हो सकता है।" परन्तु अभी हाल में उन्होंने लिखा "परन्तु पर्याप्त रासायनिक सहायता न मिलने के कारण मैं इसको गाढ़ा न कर सका।"

दस साल बाद पेनिसिलिन गाढ़ी की जा सकी और मानव-चिकित्सा के लिये प्रयुक्त हो सकी। डा० एच० डब्ल्यू० फ्लोरे ने, जो आक्सफोर्ड में चिकित्सक थे, ऐन्टीबायोटिक पदार्थों की सुनियोजित खोज का काम हाथ में लिया। उनके जीवरसायन विषयक सहयोगी डॉ० अर्नेस्ट चेन थे, जो हिटलर के अत्याचार के कारण इंग्लैण्ड में शरणार्थी थे। ये दोनों पेनिसिलिन प्राप्त करने में अद्भुत ढंग से सफल हुए। वैज्ञानिक अनुसंधान और विकास कार्यालय के तत्त्वावधान में उनकी विधियां, अमरीका की प्रयोगशालाओं और औषधिशालाओं को बतायी गयीं। फ्लेमिंग ने लिखा, "अमरीकियों ने निर्माण की विधियों में सुधार किया, जिससे डी दिवस पर प्रत्येक घायल व्यक्ति के लिये, जिसे पेनिसिलिन की आवश्यकता थी, उसकी पर्याप्त मात्रा उपलब्ध थी।"

चेन के जीवन के साथ, परियों की कहानियों जैसा सुन्दर न्याय हुआ। वे अपने देश से निर्वासित थे परन्तु उन्होंने एक ऐसी औषधि के निर्माण में प्रमुख भाग लिया जिसने उनके देश को मुक्ति दिलाने वाले लाखों युवकों की रक्षा की।

एक महान् औषधि के आविष्कार और उसके निर्दोष निर्माण में दस वर्ष का व्यवधान क्यों पड़ा? क्या इसमें फ्लेमिंग का दोष था, निश्चय रूप से नहीं। वे लोगों की दिलचस्पी और सहायता के लिये प्रयत्नशील थे। जो कोई भी फफूँदी का संवर्धन और अध्ययन करना चाहता था उसे उन्होंने उसके रेशे भेजे। क्या इसके लिये सब वैज्ञानिक दोषी थे? नहीं। जैसा कि हम आगे पायेंगे, इसमें उनका दोष नहीं था। तब इसके लिये कौन दोषी है कि उन दस वर्षों में ऐसे संक्रमणों से

लाखों आदमी मरे जिन्हें पेनिसिलिन की सहायता से नष्ट किया जा सकता था ? इस प्रश्न का उत्तर अंतिम अध्याय में दिया जायगा जिसमें अनुसंधान की उपेक्षा पर विचार के लिये इन दस वर्षों का विलम्ब मुख्य विषय होगा।

कोशिका का यह प्रबलतम रक्षक, जिसे हम अपनी रक्षा के लिये फफूंदी से उधार लेते हैं, बैक्टीरिया को किस तरह नष्ट करता है।

इस प्रश्न का उत्तर धीरे-धीरे और एक-एक करके प्राप्त हुआ, जैसा जीव-विज्ञान में सब प्रश्नों के उत्तरों का हाल होता है। सर्वप्रथम यह मालूम हुआ कि पेनिसिलिन केवल सम्वर्धन करते हुए बैक्टीरिया के लिये ही घातक है। यदि किसी पोषक तत्त्व के अभाव के कारण बैक्टीरिया का सम्वर्धन न हो रहा हो तो पेनिसिलिन की उपस्थिति में भी वह जीवित रह सकता है। डॉ० हाचकिन्स ने जिनसे हमारी भेंट कुछ पृष्ठों पहले हो चुकी है, सर्वप्रथम यह मालूम किया कि पेनिसिलिन की उपस्थिति में, बैक्टीरिया ऐमिनो अम्ल सम्मिश्र बनाते हैं। तब अमरीकी सैनिक बैक्टीरियायी युद्ध अनुसंधान केन्द्र में कार्यरत युवक रसायन-शास्त्री डॉ० जे० टी० पार्क ने एक महत्त्वपूर्ण बात मालूम की। बैक्टीरिया से निकले हुए ऐमिनो सम्मिश्र, जिन्हें हाचकिन्स ने देखा था, एक न्यूक्लिइक अम्ल खण्ड से जुड़े हुए थे। इसी बीच अधिकांशतः इंगलैण्ड के जीव-रसायन शास्त्रियों ने जिनकी दिलचस्पी का विषय बैक्टीरिया की कोशिका दीवारों की संरचना थी, कष्टसाध्य विश्लेषण के बाद मालूम किया कि बैक्टीरिया की कोशिका दीवारें अंशतः उसी सम्मिश्र से निर्मित हैं जो पेनिसिलिन की उपस्थिति में इकट्ठा होता है। इस जाल ने एक चित्र का रूप लेना आरम्भ किया—पेनिसिलिन के कारण बैक्टीरिया की कोशिका दीवारों के संघटक इकट्ठा होते हैं। दूसरी बड़ी जानकारी स्वेडननिवासी डॉ० क्लास वीबुल से प्राप्त हुई। वे उस प्रक्रिया का अध्ययन कर रहे थे जिसके द्वारा लिसोज़ाइम नामक एंजाइम बैक्टीरिया का संहार करता है। इस एन्ज़ाइम का, जो बैक्टीटिया का संहार कर सकता है, आविष्कार सर्वप्रथम स्वयं डॉ० फ्लेमिंग ने आँसू के संघटक के रूप में किया था। इस कहानी में इतनी असम्भव सांयोगिक घटनाएँ हैं कि लगता है यह डिकेन्स द्वारा कल्पित एक कथानक हो। परन्तु विज्ञान के इतिहास में प्रायः ऐसा होता आया है, क्योंकि वैज्ञानिक शोध में लीन लोगों की संख्या अधिक नहीं है। (किसी ने हिसाब लगाया है कि दुनिया में अब तक जितने वैज्ञानिक हुए हैं उनके ९५ प्रतिशत जीवित हैं।) और जिन लोगों ने चिरस्थायी आविष्कार किये हैं उनकी संख्या तो और भी कम है। इसलिये प्रायः एक ही क्षेत्र में एक ही व्यक्ति की कई उपलब्धियाँ हैं।

डॉ० वीबुल ने मालूम किया कि लिसोज़ाइम की उपस्थिति में, साधारण सम्वर्धन द्रव में बैक्टीरिया लुप्त हो जाते हैं। परन्तु जब उन्होंने सम्वर्धन द्रव में

लवरण या गन्ना शर्करा की प्रचुर मात्रा डाली तब बैक्टीरिया लुप्त नहीं हुए, केवल उनकी शकल बदल गयी। जहाँ वे पहले दण्डाकार थे, वहां वे बेडौल गोलाकार हो गये। इस जानकारी से यह संकेत मिला कि कार्यरत पेनिसिलिन का प्रेक्षरण कैसे करना चाहिये। इस संकेत को पहचानने वाले डॉ० जोशुआ लेडरबर्ग थे जो वर्तमान मेधावी सूक्ष्म जीवशास्त्रियों में से एक हैं और जिनके कार्य से हम अगले अध्याय में परिचय प्राप्त करेंगे।

डॉ० लेडरबर्ग ने उस सम्वर्धन द्रव में बैक्टीरिया के ऊपर पेनिसिलिन को आक्रमरण करने दिया जिसमें डॉ० वीबुल के उदाहरण का अनुसरण करते हुए उन्होंने गन्ना-शर्करा मिला रखी थी। उन्होंने देखा कि शर्करा की उपस्थिति में बैक्टीरिया लुप्त नहीं हुए जैसा कि वे सामान्यतः करते हैं बल्कि उनकी केवल आकृति बदल गयी और वे भी गोलाकार हो गये। जब इन गोलों को पेनिसिलिन से हटा दिया गया तब उनमें से दण्डाकार संरचनाएँ धीरे-धीरे प्रकट हुईं। पेनिसिलिन के कार्य करने का ढंग अब स्पष्ट हो गया। एक विशाल और खतरनाक समुद्र में बैक्टीरिया केवल प्रोटोप्लाज्म का एक अति सूक्ष्म करण है। विनाश से इस अमूल्य प्रोटोप्लाज्म को बचाने के लिये और उसे कुछ संरचनात्मक दृढ़ता देने के लिये बैक्टीरिया ने कोशिका दीवारों को विकसित किया है। पेनिसिलिन किसी रूप में इन दीवारों के निर्माण में हस्तक्षेप करती है और इस कारण कोशिका दीवार को बनाने वाली इकाइयाँ सम्वर्धन द्रव में एकत्र होती हैं। अपनी दीवारों से रहित नवसम्वर्धित बैक्टीरिया वैसे ही ऊपर आ जाते हैं जैसे मंथित समुद्र में बुलबुले। नग्न बैक्टीरियायी गोलक के भीतर बढ़ते हुए दबाव को, एक भौतिक क्रिया द्वारा कम करके शर्करा या लवण बैक्टीरिया की रक्षा कर सकता है। अब यह स्पष्ट हो गया कि क्यों केवल सम्वर्धन करते हुए बैक्टीरिया को पेनिसिलिन नष्ट करता है। जिस बैक्टीरिया की कोशिका-दीवार पूर्ण रूप से निर्मित हो चुकी हो वह पेनिसिलिन की पहुँच के बाहर होता है। कोशिका दीवार के निर्माण में बाधा डालकर ही पेनिसिलिन बैक्टीरिया को मार सकता है।

यह भी स्पष्ट हो गया कि पेनिसिलिन प्राणियों के लिए क्यों बिल्कुल अनिष्टकर नहीं है। चूँकि प्राणियों की कोशिकाओं में दीवारें नहीं होतीं, अतः पेनिसिलिन उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। (पेनिसिलिन चिकित्सा में कभी-कभी जो जटिलताएँ पैदा हो जाती हैं वे ऐलर्जिक प्रतिक्रियाओं के कारण होती हैं।)

पेनिसिलिन वास्तव में एक अद्भुत औषधि है। परन्तु इसकी विचित्रता केवल चिकित्सा-विषयक क्षमता में ही नहीं है। इसकी विचित्रता इस बात में भी

है कि यह बला की क्षमता के साथ उस क्रिया पर टूट पड़ता है जो बैक्टीरिया और स्तनपायियों की कोशिकाओं की भिन्नता का सम्भवतः एक मात्र उदाहरण है, यानी कोशिका दीवार का निर्माण।

हमें पेनिसिलिन की संरचना मालूम है और वह प्रयोगशाला में बनायी भी गयी है। यह बात कितनी सरल प्रतीत होती है। यह संक्षिप्त वाक्य इंगलैण्ड और अमेरिका के बीसियों सर्वश्रेष्ठ कार्बनिक रसायन शास्त्रियों द्वारा द्वितीय महायुद्ध के दौरान किये गये वर्षों के कार्य का सारांश व्यक्त करता है। इस मित्र-मंडली का नेतृत्व दोनों देशों के कार्बनिक रसायन के दो योग्यतम सेनापतियों ने किया। एक थे सर राबर्ट राबिन्सन जो प्राकृतिक रंजकों की संरचना के क्षेत्र में सराहनीय विजय प्राप्त करने के बाद इस अभियान में सम्मिलित हुए और दूसरे थे एच० टी० क्लार्क, जिन्होंने विटामिन बी के गंधकयुक्त भाग की संरचना मालूम की और उसका संश्लेषण करने में सफलता प्राप्त की।

यद्यपि पेनिसिलिन का संश्लेषण इस अंतर्राष्ट्रीय दल की एक सराहनीय उपलब्धि है परन्तु अभी तक इसका कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं है। फफूंदियों की रासायनिक क्रिया द्वारा इसे प्राप्त करना कहीं सस्ता है।

स्वयं फफूंदी के भीतर पेनिसिलिन की विशिष्ट क्रिया क्या है, यह हमें नहीं मालूम है। अणुजीवों के जीव-रसायन के विषय में सब मिलाकर हमारी जानकारी बहुत कम है। क्षम्य आत्मानुरक्ति के साथ हमने अभी तक मानव जीव-रसायन या इससे सम्बन्धित प्राणी जीवरसायन के अध्ययन पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है। सम्भव है पेनिसिलिन, फफूँदी का एक ऐसा सामान्य उपापचयन उत्पादन हो जो अन्य अणुजीवों के लिये विषैला है। या कोशिका के भीतर आत्म-रक्षा के अतिरिक्त इसकी कोई दूसरी भूमिका न हो। सम्भव है एक ऐसे सांयोगिक म्यूटेशन के कारण जिससे फफूंदी में पेनिसिलिन बनाने की क्षमता उत्पन्न हुई हो, वह फफूंदी अपना अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ हुई हो। क्योंकि प्रकृति बहुत से उद्देश्यहीन प्रतीत होने वाले तरीकों से अपना उद्देश्य सिद्ध करती है।

पेनिसिलिन और ड्यूबॉस के ऐन्टीबायोटिक का समानान्तर इतिहास, अनुसंधान की उपलब्धियों में संयोग की भूमिका का भी उदाहरण है। एक ऐन्टीबायोटिक की तलाश में वैज्ञानिकों के दो दल, एक फ्लेमिंग, फ्लोरे और चेन का और दूसरा ड्यूबॉस और उसके सहयोगियों का, सन्नद्ध हुए। वैसे ही जैसे सोने की तलाश में बहुत से स्वर्ण के खोजी सन्नद्ध होते हैं। दोनो दलों को एक जैसा प्रशिक्षण दिया गया, उनमें एक जैसी कुशलता थी और उनके पास एक जैसे औजार

थे। जिस दल को पहले सफलता मिली उसे बाद में मालूम हुआ कि सोने के साथ खराब सोना भी मिला हुआ है—ऐन्टीबायोटिक विषैला था। दूसरे दल को संयोगवश शुद्ध सोना पेनिसिलिन मिल गया और उसे सम्मान तथा नोबल पुरस्कार मिला। परन्तु यह कथन बहुत ठीक है कि, "अनुसंधान का उद्देश्य, अनुसंधानकर्ता की नहीं, बल्कि ज्ञान की उन्नति है।"

जीवन का रहस्य वास्तव में वयस्क रूपों में
नहीं प्रकट होता है बल्कि मेरे मतानुसार वस्तुतः
प्रजनन कोशिका और भावी विकास करने
की उसकी क्षमता में निहित होता है।

—पास्चर

२. जीन

हमारी कोशिकाओं के ब्लू प्रिंट

"हमारे नेता और गुरु तथा विज्ञान के महान् मित्र और समर्थक कामरेड स्टालिन का गौरव बढ़े।" इस अतिशयोक्तिपूर्ण समर्पण के साथ, सोवियत जीव-शास्त्रियों के विकट संघर्ष में विजयी ट्राफिम लाइसेन्को द्वारा लिखित पुस्तक "आज का जीव-विज्ञान" की समाप्ति होती है। संघर्ष के परिणाम के विषय में भविष्यवाणी करना बहुत कठिन नहीं था। कामरेड स्टालिन लाइसेन्को के पक्ष में या यह कहना अधिक यथार्थ होगा कि लाइसेन्को स्टालिन के पक्ष में थे।

पराजित जीवशास्त्री 'महान् गुरु' के विषय में क्या विचार रखते हैं यह यथार्थता के साथ मालूम करना कठिन है। उनकी पुस्तकों की तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, जबतक पंचवर्षीय योजनाओं के चरम उत्कर्ष के फलस्वरूप साइ-बेरिया में बेहतर प्रकाशन सुविधाएँ नहीं उपलब्ध हो सकेंगी।

जिस विवाद से लाइसेन्को विजयी होकर निकले उसका सार यह है—किसी जीवित वस्तु द्वारा अपने जीवन-काल में प्राप्त किये गये गुण क्या अपनी संतान में संचारित किये जा सकते हैं ?

आरम्भ में आश्चर्य होता है कि एक वैज्ञानिक प्रश्न जो लगभग पैंसठ वर्ष तक विवाद का विषय रहा है, राजनीतिक विवाद का विषय बन गया। तीन कारणों से जीव-विज्ञान का यह विवादास्पद प्रश्न राजनीति का विषय बना—मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार उसे मनुष्य के राजनीतिक वातावरण में परि-

वर्तन करके उसे उसकी कुत्सित अर्जनशील जन्मजात प्रवृत्तियों[1] से मुक्त किया जा सकता है। यह संदेहास्पद है कि यदि महत्त्वाकांक्षी जीव-शास्त्रियों ने जीव-शास्त्र के ऐसे वैज्ञानिक प्रश्नों को स्टालिन के समक्ष न रखा होता तो स्टालिन को उन प्रश्नों का पता भी चलता। और अंत में तानाशाही सरकार, सच्चे मार्ग से तनिक भी विपथन सहन नहीं कर सकती। ऐसी विपथन छूत की बीमारी हो सकती है।

आनुवंशिकता की प्रक्रिया जो जीवशास्त्रियों की कई पीढ़ियों का ध्यान आकर्षित करती रही है, हाल ही में अंशतः समझी गयी है। कहना न होगा कि यह एक रासायनिक प्रक्रिया है। परन्तु इसके पूर्व कि हम जीवरसायन के औजारों से निर्मित इस आधुनिकतम महान् कृति को अनावृत करें, आइये हम जीव-शास्त्रियों की अनेक पीढ़ियों द्वारा किये गये उस आधारभूत कार्य पर दृष्टिपात करें जो इस कृति को सम्भालने के लिये पीठिका का काम करता है।

यह बात बीसियों शताब्दियों से लोगों को मालूम रही है कि माता-पिता के सब प्रजातिगुण संतान को बीज के माध्यम से प्राप्त होते हैं। प्राचीन काल के किसान जब नील, दजलाफरात और यांग्ट्ज़े नदियों की उपत्यकाओं में बीज बोते थे तो उन्हें विश्वास होता था कि उसी प्रकार के अन्न की फसल वे काटेंगे।

यह बात भी मनुष्य को बहुत पहले मालूम थी कि उसी प्रजाति के व्यक्तियों की भिन्नताएँ उनकी संतानों में भी मिल सकती हैं। दौड़ में भाग लेने वाले घोड़ों की नस्ल पैदा करने वाले अरब के लोग घोड़ों की रफ्तार सुधारने में आनुवंशिकता का महत्त्व इतनी अच्छी तरह से समझते थे कि वे शताब्दियों तक वंशावली का पूरा ब्योरा रखते थे। वास्तव में जब तक यह न सिद्ध किया जा सके कि कोई घोड़ा अरब नस्ल के पाँच प्रसिद्ध पूर्वजों में से किसी एक के वंश का है, तब तक उसे शुद्ध अरब नस्ल का नहीं माना जाता।

यद्यपि यह मालूम था कि माता-पिता के कुछ गुण संतान को प्राप्त होते हैं परन्तु आनुवंशिकता के पैटर्न या नियम पिछली शताब्दी के मध्य तक अज्ञात रहे। उस समय भी उनका आविष्कार अप्रकट रहा और इस आविष्कार की घोषणा को पैंतीस साल बाद फिर से प्रकाश में लाना पड़ा।

ग्रेगर जॉन मेण्डेल ने अपने लिये आगस्टिनियन साधु के रूप में शांति और अप्रसिद्धि का जीवन चुना। यदि उसे एक शौक न होता तो वह आस्ट्रिया के ब्रन मठ के साधुओं की तरह अज्ञात बना रहता। परन्तु उस मठ के छोटे से उद्यान में उसने अपने शौक को ऐसी तेजस्विता के साथ पूरा किया कि उसने अपने पर

---

१. उच्चता की ओर ले जाने वाला सोवियत वातावरण अभी तक इन जीवशास्त्रियों की आत्मोन्नति विषयक प्रवृत्तियों का बाल बांका नहीं कर सका है।

स्वयं जो अप्रसिद्धि का पर्दा डाल रखा था, वह उठ गया और उसकी गणना उन विरल प्रतिभा वाले लोगों में होती है जो पहले-पहल प्रकृति के किसी नियम का साक्षात्कार करते हैं। मेण्डेल आनुवंशिकी विज्ञान के संस्थापक थे। आनुवंशिकता के तरीकों के अध्ययन के लिये उन्होंने साधनों को प्रस्तुत किया।

विपरीत गुणों से युक्त दो पौधों के संकरण के प्रभावों का उन्होंने अध्ययन किया। मठ-उद्यान में लम्बी और छोटी दो भिन्न प्रकार की मटरों के बीजारोपण से उन्होंने कार्य आरम्भ किया। जब इन दोनों किस्मों को अपने आप गर्भाधानित होने दिया गया और संकर गर्भाधान की बिल्कुल सम्भावना न रही तब पौधों से ऐसे बीज प्राप्त हुए जो अपने किस्म की मटर पैदा करने में समर्थ थे—वे अपने पूर्वजों की तरह लम्बे या छोटे पौधे बने। परन्तु जब लम्बी और छोटी मटरों का संकर-गर्भाधान किया गया तब इस संयोग से उत्पन्न पौधों से केवल लम्बी मटर पैदा करने वाले बीज प्राप्त हुए। परन्तु मेण्डेल यहीं नहीं रुके। उन्होंने धैर्य्य के साथ इस मिश्रित वंश वाली लम्बी मटरों का संकरण किया और उनके बीजों को एकत्र किया। इन बीजों से लम्बी और छोटी दोनों मटरें पैदा हुईं। उन्होंने बड़े ध्यान से अपने बीजों और फसलों का लेखा-जोखा रखा और एक हजार से अधिक बीजारोपणों से मालूम किया कि लम्बे और छोटे 'पोते' एक निश्चित अनुपात में प्रकट होते हैं—७५ प्रतिशत लम्बे और २५ प्रतिशत छोटे। उन्होंने इन प्रयोगों को लाल और सफेद फूल वाली मटरों के साथ दोहराया। जब उन्होंने इन फूलों का संकरण किया तब सब बीजों से लाल फूल पैदा हुए। परन्तु जब इन दूसरी पीढ़ी के लाल फूलों का संकरण किया गया तब उससे ऐसे बीज मिले जिनसे लाल और सफेद दोनों मटरें उत्पन्न हुईं। उन्हें ६०२२ लाल फूल और २००१ सफेद फूल मिले, यानी फिर तीन और एक अनुपात मिला। (अधिक यथार्थ रूप में चाहें तो ७५·१ और २४·६ प्रतिशत)।

इससे मेण्डेल ने यह निष्कर्ष निकाला कि मटर में ऐसी वस्तुएँ हैं जो रंग और ऊँचाई का निर्धारण करती हैं। सफेदी या लघुता के लिये उत्तरदायी वस्तु विपरीत गुणों के संकरण के बाद वाली पहली पीढ़ी में प्रसुप्त रहती है परन्तु दूसरी पीढ़ी में प्रकट होती है। परन्तु दूसरी पीढ़ी में प्रसुप्त वस्तु केवल अपना चौथाई रूप ही प्रकट करती है।

यह महत्त्वपूर्ण आविष्कार पैंतीस वर्ष तक उस स्थानीय वैज्ञानिक पत्रिका के पृष्ठों में छिपा रहा, जिसमें मेण्डेल ने इसे प्रकाशित किया था। अंत में संयोगवश जब तीन जीवशास्त्रियों की, इस धैर्यवान साधु के जीवन भर के कार्य पर १९०० में एक साथ ही दृष्टि पड़ी तब सम्पूर्ण विज्ञानजगत् की आँखें इस महान् आविष्कार पर केन्द्रित हो गयीं। इसे आधार मान कर अन्य जीव-शास्त्रियों ने शीघ्र ही आनुवंशिकता विज्ञान यानी आनुवंशिकी का भवन खड़ा कर दिया।

दूसरा प्रायोगिक कदम डॉ० टामस हन्ट मार्गन द्वारा उठाया गया जिन्होंने एक कीट, फल-मक्खी आनुवंशिक जाल को सुलझाने का काम अपने हाथ में लिया। उन्होंने पाया कि फल-मक्खी में बहुत-से ऐसे गुण हैं जो मेण्डेल के नियमों के अनुसार संतान में संचारित होते हैं। इनमें से कुछ गुण एक साथ प्रकट होते हैं और ऐसे सम्बन्धित गुणों के चार समूह पहचाने जा सकते हैं। यह मालूम था कि फल मक्खी की कोशिकाओं में दंड जैसी संरचना वाले चार जोड़े होते हैं जिन्हें क्रोमोसोम (रंगीन वस्तुएँ) कहते हैं परन्तु इनकी क्रिया एक रहस्य थी। मार्गन ने निष्कर्ष निकाला कि इन क्रोमोसोमों में शायद वह वस्तु है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में मेण्डेल के नियमों के अनुसार गुणों को संचारित करती है।

चूँकि गुणों की संख्या क्रोमोसोमों की संख्या से अधिक है और कई गुण एक-दूसरे से जुड़े होते हैं अतः यह निष्कर्ष निकालना पड़ा कि एक क्रोमोसोम में एक से अधिक गुणों की नियंत्रक प्रक्रियाएँ हैं। क्रोमोसोम के इन क्षुद्र, न दिखाई देने वाले खण्डों को जीन नाम दिया गया। ऐसा विश्वास है कि प्रत्येक गुण के लिये एक पृथक् जीन होता है।

आनुवंशिकता की प्रक्रिया के बृहत्तर पक्ष अब स्पष्ट हो गये। हर व्यक्ति में दो तरह के क्रोमोसोम होते हैं, एक तरह के क्रोमोसोम माता से और दूसरी तरह के पिता से प्राप्त होते हैं। मनुष्यों में तेईस जोड़े होते हैं यानी तेईस क्रोमोसोम प्रत्येक जनक से प्राप्त होते हैं। (जनन कोशिकाओं में अन्य कोशिकाओं की अपेक्षा आधे क्रोमोसोम होते हैं वर्ना प्रत्येक पीढ़ी में क्रोमोसोमों की संख्या दोगुना हो जायगी।)

आनुवंशिकता की प्रक्रिया स्पष्ट रूप से समझने के लिये फूल मटर पर फिर से विचार कीजिये। जब सफेद और लाल मटर का संकरण होता है तब प्रत्येक जनन-कोशिका रंग के नियंत्रण के लिये एक जीन देती है, एक लाल और दूसरी सफेद। किसी कारण-वश लाल जीन सफेद पर हावी हो जाता है और ऐसे संकर-बीज से सदा लाल फूल प्राप्त होंगे, यद्यपि उसमें लाल और सफेद दोनों जीन होते है। इस संकर पौधे की जनन कोशिका में केवल एक जीन, चाहे लाल या सफेद होती है। अतः इन कोशिकाओं में लाल और सफेद जीन समान अनुपात यानी एक-एक अनुपात में होते हैं। गर्भाधान की निम्नसम्भावनाएँ हैं—लाल नर सफेद मादा को गर्भाधानित कर सकता है। इस संयोग से उत्पन्न संतान भी लाल होगी, क्योंकि दोनों जीन लाल हैं। सफेद नर लाल मादा को गर्भाधानित कर सकता है और संतान फिर लाल होगी। अंत में सफेद नर सफेद मादा का गर्भाधान कर सकता है और इससे सफेद संतान होगी और इस तरह चार संतानों में केवल एक सफेद संतान होगी। मेण्डेल को लाल और सफेद

जो तीन और एक के अनुपात में मिले थे और जिसका उसने उल्लेख किया था, उसका कारण यही है।

एक जर्मन जीव-शास्त्री ए० वीज़मान ने १८८३ में जो मेण्डेल के कार्य से अपरिचित था, व्यक्ति द्वारा जीवन-काल में प्राप्त किये गये गुणों और अपने जनकों की कोशिकाओं से प्राप्त गुणों के बीच भेद किया था। वीज़मान का मत था कि जीवन-काल में अर्जित गुण संतान में संचारित नहीं किये जा सकते। अपने इस मत के परीक्षण के लिये उसने प्रायोगिक प्राणियों के वातावरण में अत्यधिक परिवर्तन किये। उदाहरणार्थ चूहों की पूँछों को वह उन्नीस पीढ़ियों तक काटता रहा। पूँछ कटे पूर्वजों से उत्पन्न चूहों की पूँछों में उसे कोई परिवर्तन नहीं मिला।

परन्तु यह मालूम था कि कभी-कभी व्यक्ति में कुछ ऐसे नवीन गुण प्रकट होते हैं जो संतान में संचारित होते हैं। ऐसे असाधारण गुण या लक्षण विरल संयोग से छिट-पुट पैदा होते हैं। स्विस उपत्यका के कुछ निवासियों के यहाँ छः उंगली वाले बच्चे पैदा होते हैं। ब्राजील के नारंगी के वृक्षों के बीच कभी-कभी एक बीज रहित नाभि संतरा सहसा प्रकट हो जाता है। एक सफेद लोमड़ी अर्ध-सफेद संतान को जन्म देती है जिससे प्लैटिनम लोमड़ी उद्योग की स्थापना सम्भव होती है। ऐसे असाधारण परिवर्तनों या म्यूटेशनों के लिये जीवशास्त्रियों को प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। वे उत्पन्न नहीं कर सकते थे। वीज़मान की असफलता के बावजूद वे बहादुरी के साथ प्रयत्न करते रहे। ऐसे आनुवंशिक म्यूटेशनों को कृत्रिम रूप से उत्पन्न करने के लिए वातावरण में सब प्रकार के परिवर्तन किये गये, परन्तु सफलता नहीं मिली।

अंत में जीवशास्त्रियों ने कठोर कदम उठाये। टी० एच० मार्गन के कोलम्बिया विश्वविद्यालय वाले छात्रों में से एक डा० एच० जी० मुलर ने फल-मक्खियों पर एक्स-किरणों को डाला। इन मक्खियों की संतानों में सब प्रकार के असाधारण लक्षण प्रकट हुए। अतिरिक्त पंख और अतिरिक्त टांगों वाली मक्खियाँ और बिना पंख और टाँगों वाली मक्खियाँ पैदा हुईं। जीवशास्त्री प्रसन्न हुए। आखिर जीन तक उनकी पहुँच हो ही गयी। ऐसा प्रतीत होता है कि एक्सरे की तीव्र ऊर्जा जब जीन से टकराती है, तब उसकी संरचना को अव्यवस्थित कर देती है और आंतरिक परिवर्तन तथा असाधारण संतान पैदा करती है।

मुलर द्वारा उत्पन्न कृत्रिम म्यूटेशनों के कारण हम इस बात का अध्ययन करने के योग्य हो सके। सूक्ष्मदर्शी यंत्र से भी न दृष्टिगोचर होने वाला क्षुद्र जीन जीवित वस्तु की आकृति, रंग और उसके व्यक्तित्व को किस प्रकार नियंत्रित करता है। इस समस्या के समाधान के लिए एक आनुवंशिकीविज्ञ और जीव-रसायन शास्त्री के बीच सौभाग्यपूर्ण सहयोग हुआ। कैलिफोर्निया के डॉ० जी०

डब्ल्यू० बीडल तथा डा० ई० एल० टैटम ने एक सरल जीव, रोटी के फफूंदी न्यूरॉस्पॉरा क्रेसा के म्यूटेशनों का अध्ययन किया।

इस लघु फफूंदी की आवश्यकताएँ बहुत कम हैं। यदि इसे शर्करा, जल, कुछ लवण और बी विटामिन बायोटिन की थोड़ी-सी मात्रा मिले तो इसका सम्वर्धन होता है। इन कुछ आरम्भिक द्रव्यों से फफूंदी अपने लिये इतने प्रकार के पदार्थ बनाता है कि आश्चर्य होता है। वह अपने स्वयं के ऐमिनो अम्लों, अपने स्वयं के विटामिनों और वास्तव में अपने जीवन के लिये आवश्यक अन्य सभी पदार्थों को बनाता है। उसकी इस बहुक्षमता का श्रेय उन ऐन्ज़ाइमों को है जो संश्लेषणात्मक कार्यों के लिये उसमें होते हैं। स्मरण रहे जीवित वस्तुओं में होने वाली सारी रासायनिक क्रियाएँ एन्ज़ाइमों द्वारा सम्पादित होती हैं।

परन्तु यदि इस आत्म-निर्भर फफूंदी पर एक्स किरणें डाली जायँ तो दूसरी पीढ़ी के कुछ फफूंदी उस सादे आहार पर जीवन निर्वाह नहीं कर सकते। ये फफूंदी शर्करा, लवण और बायोटिन के आहार से जीवित नहीं रह सकते। कुछ को एक या अधिक विटामिनों की और कुछ को ऐमिनो अम्लों की आवश्यकता होगी। इन आहारों के मिलने पर ही ये लुंज-पुंज सन्तानें जीवित रह सकेंगी। अतिरिक्त भोजन पर निर्भर रहने की विवशता एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संचारित होती रहती है, जिससे सिद्ध होता है कि कोई म्युटेशन घटित हुआ है जिसके कारण फफूंदी अपने इस ज्ञान को खो बैठा है कि ऐमिनो अम्ल और विटामिन कैसे बनाये जाते हैं। चूँकि प्राकृतिक न्यूरॉस्पॉरा में इन आहारों को एन्ज़ाइम बनाते हैं अतः हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि एक्स किरणों के प्रहार से ये विशेष एन्ज़ाइम-क्षमताएँ लुप्त हो जाती हैं। परन्तु ये लक्षण जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संचारित होते हैं, ज़ीनों में रहते हैं। इसलिये ज़ीनों का कार्य स्पष्ट हो जाता है अर्थात् वे एन्ज़ाइमों के निर्माण का नियन्त्रण करते हैं।

इन चौंधियाने वाले आविष्कारों के पूर्व इस बात के संकेत थे कि जीन हमारे एन्ज़ाइमों का नियन्त्रण करते हैं। मनुष्यों में एक विरल किस्म की जड़ता पाई जाती है जिसे आलिगॉफ्रेनिया फेनिलपारुविका कहते हैं। वे अभागे जो इस अभिशाप के साथ जन्म लेते हैं, छोटी खोपड़ी (आलिगाफ्रेनिक) वाले होते हैं। उनका बुद्धि भागफल २० और ५० के बीच होता है और वे सदा हल्के भूरे बाल तथा त्वचा वाले होते हैं। ये रोगी एक अत्यावश्यक ऐमिनो अम्ल, फेनिलैलनीन का अच्छी तरह से उपापचयन नहीं कर सकते। चूँकि शरीर के रोगों का निर्माण इसी ऐमिनो अम्ल से होता है अतः इन बेचारों के अत्यधिक भूरेपन का कारण स्पष्ट है। इस ऐमिनो अम्ल के उपापचयन का एक मध्यवर्ती पदार्थ उनके रक्त और मूत्र में पाया जाता है। जैसे मधुमेह के रोगी के मूत्र में शर्करा की अधिक मात्रा के होने का कारण है शर्करा का उपापचयन न कर पाने की विवशता उसी

तरह इस रोग के मरीज़ ऐमिनो अम्ल के एक मध्यवर्ती पदार्थ का उपापचयन नहीं कर पाते और इसलिये वह उनके मूत्र में पाया जाता है।

यह रोग निश्चित रूप से आनुवंशिक है। किसी बीभत्स म्यूटेशन के कारण इन रोगियों के किसी पूर्वज की, ऐमिनो अम्ल का उपापचयन करने वाले एन्ज़ाइमों की श्रृंखला के किसी विशेष एन्ज़ाइम को बनाने की क्षमता जाती रही। चूंकि संश्लेषणात्मक और ह्रासात्मक दोनों प्रकार की क्रियाएँ एन्ज़ाइम संचालित कड़ियों की एक श्रृंखला की परिणाम हैं अतः यदि कोशिका की संयोजन-पंक्ति की एक भी कड़ी टूट जाय तो किसी पदार्थ का संश्लेषण या ह्रास रुक सकता है। आजकल के किसी जीव के लम्बे विकास इतिहास में एन्ज़ाइम प्रदत्त ऐसी क्षमताओं का लाभ या हानि बेतरतीब होती रही है। विकास-तन्त्र में किसी नींव की आपेक्षिक स्थिति में और उसकी संश्लेषणात्मक क्षमता में कोई परस्पर सम्बन्ध नहीं है। रोटी के फफूंदी जैसे कुछ जीवाणु, ऐमिनो अम्ल और विटामिन बनाने की अद्भुत क्षमता से युक्त होते हैं। परन्तु लैक्टिक अम्ल वाले जीवाणुओं जैसे कुछ जीवाणु दर्जनों आवश्यक पदार्थों के लिये अपने परिवेश पर निर्भर होते हैं और यदि वे वहाँ से उन्हें न मिलें तो वे भूखों मर जायँ। स्तनपायियों जैसे समरूप वर्ग में भी, संश्लेषण क्षमता विषयक बहुत भिन्नता होती है। सफेद चूहा, हिस्टिडाइन ऐमिनो अम्ल नहीं बना सकता है परन्तु उसी वर्ग का दूसरा प्राणी मनुष्य उसे आसानी से बना सकता है। आधुनिक प्रमाणों से पता चलता है कि किसी जीव के विकास इतिहास में किसी यौगिक को बनाने की क्षमता कई बार प्राप्त और कई बार लुप्त हो सकती है। बहुत सम्भव है कि प्रत्येक निर्माण-क्षमता म्यूटेशनों से प्राप्त हुई है। सम्भव है कि प्राथमिक जीवित वस्तुओं में संश्लेषणात्मक क्षमता बिल्कुल नहीं थी। यह कल्पना करना कठिन है कि अपने जीवन के लिए आवश्यक यौगिकों के निर्माण के लिए आवश्यक सारे एन्ज़ाइमों से लैस होकर प्राथमिक जीव प्रकट हुए। इसके विपरीत यह कल्पना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होती है कि वे अपना निर्वाह उन कार्बन यौगिकों पर करते थे जो एक समय तप्त परन्तु तब ठंडी होती हुई पृथ्वी की पपड़ी पर अत्यधिक मात्रा में बिखरे हुए थे। सांयोगिक म्यूटेशनों के कारण जैसे-जैसे एन्ज़ाइम या इन एन्ज़ाइमों का निर्माण करने वाले जीव अर्जित किए गए, वैसे-वैसे मंद गति से संश्लेषणात्मक क्षमता का संचय हुआ। इसके प्रकाश में वर्तमान जीवों की आश्चर्यजनक जीवरासायनिक जटिलता का स्रोत स्पष्ट हो जाता है। एक जीवाणु या एक आदमी भानमती का जीवरासायनिक पिटारा है या दूसरे शब्दों में उन बेतरतीब म्यूटेशनों का योग है।

अवैज्ञानिक आलोचकों ने शिकायत की है कि जीवशास्त्री कल्पना से शून्य होता है। उस पर यह आरोप लगाया गया कि वह शायद ही कभी परमाणु वैज्ञा-

निकों जैसी व्यापक परिकल्पना करता है। यदि यह दोष है तो इसके लिए जीवशास्त्री नहीं बल्कि प्रकृति दोषी है। या तो जीवन का कोई समग्रग्राही पैटर्न है ही नहीं और यदि कोई पैटर्न है तो वह इतना जटिल है कि हमारा वर्तमान अविकसित मस्तिष्क उसे देख नहीं सकता। हम भला इस बात की भविष्यवाणी कैसे कर सकते हैं कि किसी ऐसी जीवित वस्तु में एक एन्ज़ाइम-विशेष है या नहीं जो हजारों बेतरतीब म्यूटेशनों का परिणाम है? मनुष्य के रक्त और मूत्र में हम एक पदार्थ, यूरिक अम्ल पाते हैं जो प्रोटीन उपापचयन का फालतू द्रव्य है। कुत्तों में, उनके जिगर के एक एन्ज़ाइम द्वारा यूरिक अम्ल लगभग पूर्णरूप से एक दूसरे पदार्थ, ऐलन्ट्वायन में परिवर्तित हो जाता है और तब वह बाहर आता है। परन्तु कुत्तों की एक नस्ल, डाल्मेशियन प्रशिक्षण कुत्ते, आदमी की तरह यूरिक अम्ल बाहर निकालते हैं ऐलन्ट्वायन नहीं। हम बड़े से बड़े दिमाग वालों को चुनौती देते हैं कि वे हमें बतायें कि हम पहले से ही यह भविष्यवाणी कैसे कर सकते थे कि इस फालतू पदार्थ के मामले में डाल्मेशियन प्रशिक्षण कुत्ता आदमी के पैटर्न का अनुकरण करेगा।

जीववैज्ञानिक के ज्ञान का स्रोत है क्रमशः होने वाली प्रायोगिक खोज। उसे धैर्यपूर्वक कोशिका की जटिलताओं को मालूम करना पड़ता है। वह शायद ही कभी उनके बारे में भविष्यवाणी कर सकता है। यही कारण है कि जीववैज्ञानिकों के बीच विलक्षण प्रतिभा वाले शिशुओं की कमी है। अपने पेशे के तरीकों में कुशलता प्राप्त करने तथा इन तरीकों से ज्ञान संचित करने में इतना समय लग जाता है कि अपने क्षेत्र में प्रसिद्धि उसे प्रायः तब प्राप्त होती है जब वह अधेड़ हो चुका होता है। परन्तु गणितज्ञों और सैद्धान्तिक भौतिकी वेत्ताओं की बात और है। उनमें से बहुत से युवावस्था में प्रवेश के साथ ही अपने क्षेत्र में प्रसिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु उनका कार्य सरल है। उन्होंने अपने लिए केवल अकार्बनिक-जगत्—परमाणुओं, ग्रहों और तारों को चुना है। परन्तु जीववैज्ञानिक उस सूक्ष्म कोशिका का सर्वेक्षण करता है जिसमें अकार्बनिक जगत् की सारी शक्तियाँ और संघटक तो हैं ही, साथ ही जीवन की शक्ति और पैटर्न भी है।

जीन, प्रोटीन अणु, एन्ज़ाइम को कैसे उत्पन्न करता है? या ऐसा ही परेशान करने वाला दूसरा प्रश्न है—जीन स्वयं अपनी तरह का दूसरा जीन कैसे बनाता है? हम मनुष्य एक अति सूक्ष्म एकाकी गर्भाधानित अण्डे से जीवन में प्रवेश करते हैं। इस अण्डे के न्यूक्लियस में छियालिस क्रोमोसोम होते हैं और इन क्रोमोसोमों में अगणित जीन होते हैं। अन्ततोगत्वा हमारे शरीर की प्रत्येक कोशिका में जैसे ही छियालिस क्रोमोसोम और शायद वैसे ही जीन होते हैं। जीनों ने अपने वैसे जीनों को अरबों बार कैसे बनाया जिससे वे हमारी अरबों कोशिकाओं में पाये जाते हैं?

जीन किस पदार्थ से निर्मित होते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर एक ऐसे प्रयोग से प्राप्त हुआ जो इस प्रश्न से बिल्कुल असम्बद्ध था। साथ ही उस उपलब्धि की व्याख्या आरम्भ में बिल्कुल गलत थी। अपनी स्वीकृति के लिए प्रायः वैज्ञानिक सत्य को संघर्ष करना पड़ता है।

डॉ० एफ० ग्रिफिथ ब्रिटिश स्वास्थ्य मंत्रालय में चिकित्सा विषयक अधिकारी थे। लगभग तीस वर्ष पूर्व वे न्यूमोकोसाई के भिन्न प्रभेदों की प्रचण्डता का अध्ययन कर रहे थे। लोबर न्यूमोनिया के रोगियों के थूक से उन्होंने पृथक् बैक्टीरियायी दलों को अलग किया, उनका अलग-अलग सम्वर्धन किया और चूहों को विशुद्ध बैक्टीरियायी प्रभेदों का इन्जेक्शन देकर उनकी प्रचण्डता का अध्ययन किया।

उन्होंने देखा कि उन न्यूमोकोसाई का चूहों को इंजेक्शन देने से, जो विशेष पोषण तत्त्वों से युक्त प्लेटों पर खुरदरे पृष्ठ वाली कोशिकाओं का निर्माण करते हैं, चूहों का कोई अहित नहीं हुआ परन्तु चिकनी, चमकदार कोशिकाएँ बनाने वाले न्यूमोकोसाई बहुत विषैले थे। उन अवस्थाओं का अध्ययन करने के लिए जिनमें हानि न पहुँचाने वाले जीवाणु फिर से विषैले हो सकते हैं, उन्होंने भाप से चिकने विषैले जीवाणुओं को मार डाला और इन मृत जीवाणुओं के साथ खुरदरे, कमज़ोर, जीवित जीवाणुओं का इन्जेक्शन उन्होंने चूहों को दिया। यह मिश्रण घातक सिद्ध हुआ। जब ग्रिफिथ ने बैक्टीरियायी शव परीक्षण किया तब उन्हें एक असाधारण बात मालूम हुई। उन्होंने पाया कि मृत्यु के दूत जीवित चिकने न्यूमोकोसाई थे जो मृत चूहों के रक्त में बहुत बड़ी संख्या में थे। दूसरे शब्दों में खुरदरी अहानिकर कोशिकाएँ, चिकनी, विषैली कोशिकाओं में परिवर्तित हो गयीं। इस तथ्य की ग्रिफिथ ने १९२८ में जो व्याख्या की वह उन आहारीय समस्याओं से प्रभावित थी जिनमें उस काल के वैज्ञानिक उलझे हुए थे। उन्होंने सोचा कि मृत चिकने न्यूमोकोसाई चूहे के शरीर में विघटित हो जाते हैं और एक पैब्यूलम उत्पन्न करते हैं जिसकी मदद से जीवित खुरदरे न्यूमोकोसाई चिकनी संरचना बनाते हैं।

परन्तु संरचना और विषैलेपन में जो यह विचित्र परिवर्तन हुआ उसकी आण्विक प्रक्रिया आगे चलकर इतनी सूक्ष्म सिद्ध हुई कि उसका आविष्कर्ता उसकी कल्पना नहीं कर सकता था।

यद्यपि ग्रिफिथ ने अपने आविष्कार की बहुत अपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की फिर भी, अत्यधिक भावी महत्त्व वाली एक बिल्कुल नयी घटना के वर्णन का पूरा श्रेय उन्हें देना चाहिए। यह बात आसान नहीं है कि जीव विज्ञान के उस उद्यान में खुदाई करके वास्तव में नयी कोई वस्तु प्राप्त की जा सके जिसमें हज़ारों वैज्ञानिक पहले खुदाई कर चुके हैं। दूसरों द्वारा पहले मालूम किये गये तथ्यों को विकसित करना और परिष्कृत करना अपेक्षाकृत सरल है। हर व्यक्ति जो वैज्ञा-

निक कार्य को अपना पेशा बनाना चाहता है ऐसा कर सकता है और बस इतना ही करता है। परन्तु वास्तव में नयी किसी चीज़ को देखने और उसे प्रकाश में लाने के लिए विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है। इसके लिये आवश्यक है कि हम प्रकृति के सामने तो नम्र रहें परन्तु अपने सहयोगियों के प्रति कठोर रहें। प्रकृति के संकेतों का सम्मान करना चाहिए परन्तु प्रचलित अंधविश्वास को ठुकराना चाहिए। मौलिक आविष्कार करने वाले वैज्ञानिक में अन्तर्दृष्टि होनी चाहिए, उसे जानना चाहिए कि एक स्पष्ट प्रयोग का नियोजन कैसे करना चाहिए, उसमें पर्याप्त आत्मविश्वास होना चाहिये ताकि वह निश्चित रूप से कह सके कि वह जो कुछ देख रहा है वह वास्तविक है, और अपने क्षेत्र का उसे पूरा ज्ञान होना चाहिए ताकि उसे मालूम हो सके कि उसने जो कुछ मालूम किया है वह नया है। और अन्त में भाग्य भी सहायक होता है।

और दूसरे जिन लोगों ने ग्रिफिथ के इस आविष्कार को दोहराया उन्होंने पाया कि चूहों का इस घटना में कोई हाथ नहीं है। आहारीय माध्यम से भरी एक परीक्षण नली में जीवित खुरदरी कोशिकाओं को मृत चिकनी कोशिकाओं के साथ हिलाने मात्र से खुरदरी कोशिकाओं का चिकनी कोशिकाओं में वैसा ही परिवर्तन हो सकता है। यही नहीं, मृत कोशिकाओं की भी आवश्यकता नहीं थी। उनसे निकाला गया अर्क भी काफी प्रभावकारी था।

अन्त में ग्रिफिथ के प्रेक्षण की ओर हाल ही के सर्वश्रेष्ठ सूक्ष्म जीव वैज्ञानिक डॉ० ओ० टी० ऐवरी का ध्यान गया जो न्यूयार्क के रॉकफेलर संस्थान से सम्बद्ध हैं। एक निबंध में, जो विषय-वस्तु और शैली दोनों दृष्टियों से एक महान् रचना है, डा० ऐवरी और उनके सहयोगियों ने ग्रिफिथ के आविष्कार के अध्ययन के लिये प्रस्तावित अपने कार्य की रूपरेखा दी, "स्थूल बैक्टीरियायी रस से सक्रिय द्रव्य को पृथक् करना और यदि सम्भव हो तो उसकी रासायनिक प्रकृति को मालूम करना।"

डॉ० ऐवरी और उनके सहयोगियों ने, जैव दृष्टि से सक्रिय किसी पदार्थ के पृथक्करण के प्रामाणिक तरीकों का इस्तेमाल कर चिकने न्यूमोकोसाई से एक ऐसा पदार्थ निकाला जो खुरदरी कोशिकाओं को चिकनी कोशिकाओं में परिवर्तित करने में समर्थ था। परिवर्तित पदार्थ की मात्रा दस करोड़वें ग्राम ($१०^{-८}$ ग्राम) के लगभग थी।

इस द्रव्य द्वारा जो न्यूमोकोसाई, चिकनी कोशिकाओं में परिवर्तित होते थे वे अपनी तरह की कोशिकाओं का लगातार सम्वर्धन करते रहते थे।

यह एक असाधारण तथ्य था कि एक प्रकार की कोशिका से निकाला गया अतिअल्प द्रव्य दूसरे प्रकार की कोशिकाओं में ऐसा परिवर्तन करने में समर्थ था

जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संचारित हो सकता था अर्थात् आनुवंशिक था। यह प्रबल द्रव्य क्या था ?

यह परिवर्तनकारी द्रव्य, डा० ऐवरी का अर्क कहा जाने लगा और उसके बारे में पता चला कि वह और कुछ नहीं बल्कि डिआक्सिरिबान्यूक्लिइक अम्ल या डी० एन० ए० है जो प्रत्येक जीवित कोशिका का एक सुपरिचित संघटक है।

जीव-रसायन-विषयक अनुसंधान में डी०एन०ए० का लम्बा इतिहास रहा है। सर्वप्रथम १८७१ में यह मवाद कोशिकाओं के न्यूक्लियसों से पृथक् किया गया। उसके बाद मालूम हुआ कि प्रत्येक प्रकार की कोशिकाओं में यह प्रस्तुत रहता है और जिन कोशिकाओं में न्यूक्लियस होता है उनके न्यूक्लियसों में केन्द्रित रहता है। यहाँ तक कि न्यूक्लियस के भीतर इसकी यथार्थ स्थिति का भी पता लगा लिया गया। डी० एन० ए० उन क्रोमोसोमों का एक संघटक है जो एक कोशिका से दूसरी कोशिका में आनुवंशिक लक्षणों के संचारण से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं।

ऐवरी के कार्य से पूर्व, डी०एन० ए० की क्रिया के विषय में केवल अनुमान भर किया जा सकता था। हम इसे कोशिका से अलग नहीं कर सकते थे और इसकी क्रिया का निर्धारण नहीं कर सकते थे, यद्यपि बीसियों प्रोटीन एन्ज़ाइमों के साथ हम ऐसा कर सकते हैं। परन्तु अब पहले-पहल इस बात का प्रमाण मिला कि डी० एन० ए० एक ऐसा महत्त्वपूर्ण अणु है जिसकी संरचना में, विषैलापन तथा बैक्टीरियायी कोशिकाओं की आकृति जैसे आनुवंशिक लक्षण शायद निहित हों। अन्य परिवर्तनशील लक्षणों के आविष्कारों से इस मत की शीघ्र पुष्टि हो गयी। उदाहरणार्थ, जीवाणुओं के किसी समूह में कुछ कोशिकाएँ स्ट्रेप्टोमाइसिन का विरोध कर सकती हैं। ऐसी प्रतिरोधी कोशिकाओं से डी० एन० ए० को प्राप्त कर, स्ट्रेप्टोमाइसीन से प्रभावित होने वाली कोशिकाओं को उसके प्रभाव से बचने की आनुवंशिक क्षमता प्रदान की जा सकती है।

यह प्रबल अणु कोशिकाओं पर किस तरह हावी होता है ? पिछले दशक में किये गये कुछ बहुत कौशलपूर्ण जैव प्रयोगों के फलस्वरूप इस प्रश्न का आंशिक उत्तर प्राप्त हुआ है। डॉ० जोशुआ लेडरबर्ग ने सिद्ध किया कि कुछ बैक्टीरिया में बहुत विरल परन्तु असंदिग्ध यौन प्रजनन होता है। यदि हम उन्हें सूक्ष्मदर्शी यन्त्र की सहायता से देखें तो हम पायेंगे कि कुछ प्रकार के बैक्टीरिया में दो बैक्टीरिया एक जोड़ा बना सकते हैं जिसमें एक नर प्रवृत्ति वाला और दूसरा मादा प्रवृत्ति वाला होता है। उन दोनों के बीच एक क्षुद्र नलिका बन जाती है जो उन दोनों को एक घंटा तक जोड़े रह सकती है। डा० लेडरबर्ग ने एक कौशलपूर्ण प्रयोग से यह दिखाया कि उन दोनों के बीच जनन-द्रव्य का आदान-प्रदान होता है और इसके लिये उन्हें नोबल पुरस्कार मिला। मान लीजिये कि नर बैक्टीरिया की एक किस्म ऐसी है जो विटामिन नहीं बना सकती और मादा

बैक्टीरिया की एक किस्म ऐसी है जो एक ऐमिनो अम्ल नहीं बना सकती। इन दोनों प्रभेदों में से कोई भी उपयुक्त आहारीय पूरक के बिना जीवित नहीं रह सकता। परन्तु यदि हम इन दोनों प्रभेदों को मिला दें और उन्हें सम्भोग करने दें तो उनकी संतान ऐसी होगी जिसे इन दोनों आहारों में से किसी की कमी नहीं होगी। आहार-विषयक यह स्वावलम्बन, दोनों जनकों की निर्माण-क्षमताओं के संयोग से ही सम्भव हो सकता है। दूसरे शब्दों में जब ऐमिनो अम्ल के निर्माण करने का ज्ञान, नर से मादा में पहुँचता है तब एक ऐसा जीव उत्पन्न हो सकता है जिसमें ऐमिनो अम्ल और विटामिन दोनों बनाने की क्षमताएँ पाई जायँ, क्योंकि मादा में विटामिन बनाने की क्षमता होती है।

क्या डी० एन० ए० सिम्फनी आर्केस्ट्रा के संचालक की तरह है जो कोशिका के विभिन्न भागों को इच्छानुसार अपनी भूमिका अदा करने का आदेश दे सकता है या क्रोमोसोमीय डी० एन० ए० धागा एक ऐसे लम्बे ब्लूप्रिंट से अधिक मिलता-जुलता है जिसके भागों में कुछ सूचना छिपी है ? दो फ्रांसीसी वैज्ञानिकों डॉ० एफ० जैकोब और डॉ० ई० वोल्मन ने, जो पास्चर इन्स्टीट्यूट से सम्बन्धित थे, लेडरबर्ग के कुछ परिवर्तित रूप को चातुर्यपूर्ण ढंग से करके इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त कर लिया। कई आहारीय अतः कई एंज़ाइमीय अभावों वाले बैक्टीरिया को उन्होंने यौन संयोग के लिये चुना। उन्होंने सम्भोग और नलिका का निर्माण होने दिया परन्तु उसके बाद थोड़ी-थोड़ी देर बाद उन्होंने हस्तक्षेप किया और रति-संलग्न बैक्टीरिया को हटाकर उन्हें एक मशीन में घुमाया। इस वर्बरता के कारण नली टूट जाती है परन्तु जोड़े का और कोई अहित नहीं होता। उनका सम्वर्धन और विभाजन होता रहता है। प्रयोग से यह पता चला कि जितनी ही देर तक वे रति-क्रिया में लीन रहे, विच्छिन्न मिथुन से उत्पन्न संतान में उतने ही अधिक प्रकार के वे एंज़ाइम प्रकट हुए। जो पहले नहीं थे। दूसरे शब्दों में, एन्जाइमों को बनाने की क्षमता एक कोशिका के बाद दूसरी कोशिका में तत्काल नहीं प्रकट हो जाती बल्कि एक निश्चित काल-क्रम के अनुसार उत्पन्न होती है। अतः पता चला कि क्रोमोसोमीय डी० एन० ए० एक लम्बा टेप है, जिसके खण्डों पर प्रत्येक एन्ज़ाइम को बनाने के लिए नक्शा छपा हुआ है।

हाल ही में एक नये प्रकार का परिवर्तन किया जा सका जिससे इस बात की पुष्टि हो गयी कि डी० एन० ए० एंज़ाइमों को बनाने में भाग लेते हैं।

यदि बैक्टीरिया पर अल्ट्रावायलेट किरणें डाली जायँ तो उसी तरह के जीव-रासायनिक म्यूटेशन होते हैं जैसे रोटी वाली फफूंदी में। बैक्टीरिया अपने कुछ आहारों को बनाने की क्षमता खो बैठते हैं। वे जीव-रासायनिक दृष्टि से अपाहिज हो जाते हैं और ऐमिनो अम्ल या विटामिन के लिये अपने उदार वातावरण पर निर्भर हो जाते हैं। वहाँ से निराश होने पर मर जाते हैं।

६२७२

अविकल तथा म्यूटेशनहीन कोशिकाओं से निकाले हुए डी० एन० ए० में डुबा कर जीव-रासायनिक विकलांगों को उनकी पूर्व-क्षमता प्रदान की जा सकती है। अर्थात् पूर्ण कोशिकाओं वाले डी०एन० ए० से खोई हुई क्षमता फिर से हासिल हो जाती है।

डी० एन० ए० कोशिका पर कैसे हावी होता है और कैसे उससे अंतिम उत्पादन अर्थात् विशेष एन्ज़ाइम क्रियाओं से युक्त प्रोटीन अणु का निर्माण करवाता है, यह जीव-रसायन की एक अनबूझ पहेली है। हम जानते हैं कि एक दूसरे प्रकार का न्यूक्लिइक अम्ल जिसे रिबोज न्यूक्लिइक अम्ल (आर० एन० ए०) कहते हैं, मुख्यतः न्यूक्लियस के बाहर स्थित होता है और हमारी वर्तमान धारणा के अनुसार यही आर० एन० ए० उस भवन-निर्माता ठेकेदार की भूमिका अदा करता है जो नक्शे को भवन का रूप देता है। (कुछ वाइरसों जैसे तम्बाकू के जालीदार वाइरस में आर० एन० ए० गुप्त संदेश का वाहक भी होता है और उसे कार्य रूप में परिणत भी करता है।) डी० एन० ए० से आर० एन० ए० तक सूचना पहुँचने की आण्विक प्रक्रिया और आर० एन० ए० द्वारा ऐमिनो अम्लों को एक विशेष पैटर्न में व्यवस्थित किये जाने की विधि सम्प्रति अज्ञात है।

हाँ, हम यह जानते हैं कि आर० एन० ए० एक रंग की तरह नहीं काम करता है जो प्रोटीन अणु को समाप्त कर देता है। विभिन्न ऐमिनो अम्लों के साथ संलग्न आर० एन० ए० अणुओं को हम कोशिका के उन भागों में बिखरा हुआ पाते हैं, जहाँ प्रोटीनों का निर्माण होता है। इससे पता चलता है कि आर० एन० ए० और वह प्रोटीन जिसका वह निर्माण करता है, एक साथ ही एकत्र होते हैं, उसके बाद किसी तरीके से प्रोटीन अलग हो जाता है।

जिस द्रुत गति से कोशिका लगभग एक हजार ऐमिनो अम्लों को एकत्र कर, विशेष संरचना और क्रिया वाले किसी प्रोटीन का निर्माण करती है वह आश्चर्य-जनक है। गणना करने से मालूम होता है कि बैक्टीरिया-कोशिका में यह काम एक या दो सैकण्ड में हो जाता है। हममें से उन लोगों के लिये जिन्हें कोशिका के अध्ययन में अपना जीवन व्यतीत करने का सौभाग्य प्राप्त है, जीवित कोशिका की अद्भुत क्षमता, आतंक और प्रशंसा का अक्षय स्रोत है

अब हम जीन को एक पृथक् भौतिक द्रव्य नहीं मान सकते। वह क्रोमोसोमीय डी० एन० ए० धागे का एक खण्ड मात्र है जो एक विशेष एन्ज़ाइम के निर्माण के लिये उत्तरदायी है। परन्तु यह शब्द आज भी उतना ही उपादेय है जितना वह उस समय था जब जीवशास्त्रियों ने उसे गढ़ा था। इसके अभाव में हमें वही बात घुमा फिरा कर इस भद्दे ढंग से कहनी पड़ती—एक विशेष एन्ज़ाइम को बनाने की क्षमता से युक्त क्रोमोसोमीय डी० एन० ए० का एक खण्ड।

जीन केवल हमारी संरचना का ही नहीं, बल्कि हमारे व्यक्तित्व का भी निर्धारण करते हैं । कोई भी दो आदमी एक जैसे नहीं होते । स्थूल भिन्नताएँ बहुत पहले से मालूम रही हैं । अंगूठे के निशान से पहचान करना व्यक्तित्व के केवल एक क्षेत्र की भिन्नता के उपयोग का उदाहरण है ।

परन्तु हाल में मिले प्रमाणों से पता चलता है कि हम और अधिक सूक्ष्म मामले में भी वास्तव में पृथक् व्यक्तित्व वाले हैं । टेक्सास विश्वविद्यालय के डॉ० रोगा जे० विलियम्स, जिन्होंने आज से चालीस वर्ष पूर्व विटामिनों पर, जैसा पहले भाग के तीसरे अध्याय में बताया गया है, चकाचौंध पैदा करने वाला काम किया था, एक दिलचस्प नये क्षेत्र के अन्वेषण में संलग्न रहे हैं । यह क्षेत्र है—व्यक्तित्व का जीव-रासायनिक आधार । वे और उनके समयोगी आदमियों के उपापचयन सम्बन्धी बहुत-सी बातों का मापन करते हैं । इन में ये बाते शामिल हैं — रक्त में उपापचयनी संघटक, मूत्र में पाये जाने वाले उत्सर्जन द्रव्य, और कुछ दबावों से होने वाली व्यक्तिगत प्रतिक्रियाएँ । इनका मापन कर वे प्रत्येक व्यक्ति के लिये चार्ट बनाते हैं । यह चार्ट एक नक्षत्र की आकृति जैसा होता है जिसके केन्द्रीय बिन्दु से भिन्न लम्बाई वाली रेखाएँ खींची जाती हैं । प्रत्येक रेखा एक मापी हुई राशि को व्यक्त करती है और रेखा की लम्बाई राशि की मात्रा को । इस तरह एक छोटे क्षेत्र में बहुत सारी जानकारी केन्द्रित हो जाती है और प्रत्येक व्यक्ति का एक तरह का उपापचयनी अगूंठा-निशान ले लिया जाता है । किन्हीं दो व्यक्तियों का पैटर्न एक जैसा नहीं होता । इससे पता चलता है कि हमारी स्थूल संरचनाएँ ही भिन्न नहीं हैं बल्कि आण्विक संघटकों के स्तर पर भी हम एक दूसरे से भिन्न होते हैं । इस नियम के अपवाद केवल जुड़वाँ बच्चे होते हैं जिनके उपापचयनी अगूंठा-निशान मूलतः सदा एक से होते हैं । चूँकि एक जैसे जुड़वाँ एक कोशिका से उत्पन्न होते हैं और इस कारण जीनों की दृष्टि से एक-से होते हैं और चूँकि केवल उन्हीं के उपचचयनी पैटर्न एक से होते हैं अतः आण्विक स्तर पर हमें आनुवांशिक नियंत्रण का प्रमाण मिलता है ।

इस तरह हमारे जीन केवल इस बात का ही निर्धारण नहीं करते हैं कि हम लम्बे होंगे या छोटे, गोरे होंगे कि काले, बल्कि इसका भी निर्धारण करते हैं कि हम शर्करा या कॉलेस्टरॉल का उपापचयन किस तरह करते हैं, हमारे रक्त में हार्मोनों का स्तर क्या है, निकाटीन की हमारे ऊपर क्या प्रतिक्रिया होती है । संक्षेप में वे जीवन के मूलाधार हैं । चूँकि ऐसा है अतः स्पष्टतः यह प्रश्न उठता है कि अपने जीनों पर नियंत्रण प्राप्त कर हम कब जीवन को उच्चतर दीर्घतर बनाने में समर्थ हो सकेंगे ? दुर्भाग्य से चिकित्सा के लिये जीनों के मामले में जीव रासायनिक हस्तक्षेप का विचार अभी केवल वैज्ञानिक उपन्यासों में पाया जाता है । डी० एन० ए० अणु को इतने अद्भुत ढंग से निर्दोष बनाने में कि उसके धागों

से आइन्स्टीन और बीथोवन की रचना हो सके, प्रकृति को शायद सौ अरब वर्ष लग गये, परन्तु हम केवल नब्बे वर्ष से उसका अध्ययन कर रहे हैं ।

सम्भव है जीवन की चिनगारी डी० एन० ए० अणु की कुंडली में सुरक्षित हो अतः विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों के शोधकर्ता उसके अध्ययन में रुचि ले रहे हैं। भौतिक विज्ञानवेत्ता, रसायनज्ञ, जनन शास्त्र वेत्ता सब आशा के साथ इस क्षेत्र में सफलता पाने के लिए एक दूसरे से होड़ कर रहे हैं। उनका ऐसा करना उचित ही है क्योंकि जीवित कोशिका के किसी भी संघटक ने हमें उतनी बड़ी चुनौती नहीं दी है जितनी डी० एन० ए० की संरचना और उसकी कार्यप्रणाली ने। डी० एन० ए० अणु का आकार बहुत विशाल है। वह हाइड्रोजन परमाणु से साठ लाख गुना भारी है। इन्सुलिन जैसे सक्रिय अणु से यह हजार गुना बड़ा है। इस अणु के संघटक असाधारण हैं। इसका बड़ा केन्द्रीय भाग फास्फोरिक अम्ल का बना है। केन्द्र से बाहर की ओर डेसोक्सिराइबोस शर्करा के अणु फैले हुए होते हैं और इन अणुओं के साथ दो भिन्न प्रकार के नाइट्रोजनीय बेस, प्यूराइन और पाइरिमिडाइन जुड़े रहते हैं।

हमारे वर्तमान मतानुसार, कोशिका प्रक्रिया का नक्शा इन्हीं नाइट्रोजनीय बेसों के क्रम में निहित है। प्रत्येक बार जब कोशिका विभक्त होती है तब डी० एन० ए० अणु में निहित सूचना का द्विगुणन हो जाता है ताकि दोनों कोशिका संतानों को मूल संकेत मिल सके। यह किस तरह से सम्भव होता है इसका स्पष्टीकरण, केम्ब्रिज विश्वविद्यालयके डॉ० एफ० सी०एच० क्रिक तथा हार्वर्ड के डॉ० जे० वाटसन ने एक बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण परिकल्पना की सहायता से किया है। डॉ० क्रिक के जीवन से पता चलता है कि इस समस्या से सम्बद्ध वैज्ञानिक शाखाओं का दृष्टिकोण कितना व्यापक है। डॉ० क्रिक एक भौतिक विज्ञानवेत्ता हैं और द्वितीय विश्वयुद्ध में उन्हें हवाई टारपीडो का डिजाइन बनाने का प्रशिक्षण मिला था। कहाँ टारपीडो और कहाँ डी० एन० ए०।

डॉ० क्रिक और डॉ० वाटसन ने कुछ भौतिक प्रमाणों के आधार पर यह मत व्यक्त किया कि डी० एन० ए० एक जैसे दो रेशों का एक द्वैध धागा है और ये रेशे एक कमजोर अन्तः परमाणवीय बलों द्वारा परस्पर जुड़े हैं। डी० एन० ए० की कल्पना एक कुंडलीदार जिपर के रूप में की जा सकती है। कोशिका विभाजन के समय जिपर दो भागों में पृथक् होता है और प्रत्येक कोशिका संतान में एक धागा जाता है और वहाँ उसके साथ एक वैसा ही नया जिपर साथी फिट हो जाता है।

इस नये डी० एन० ए० धागे का निर्माण एंजाइमों द्वारा होता है, यह बात स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय के जीवरसायन शास्त्री डा० आर्थर कार्नबर्ग ने हाल ही में सिद्ध कर दी है और इसके लिए उन्हें नोबल पुरस्कार मिला है।

वे बैक्टीरिया कोशिकाओं से प्राप्त एन्ज़ाइमों को परिशुद्ध करने में सफल हुए हैं। ये एन्ज़ाइम डी० एन० ए० के लघु आण्विक संघटकों को डी०एन०ए० अणु से जुड़ने के लिए प्रेरित कर सकते हैं परन्तु इसके लिए डी० एन० अणु का प्रस्तुत होना आवश्यक है। यह क्रिया कुछ वैसी ही है जैसे बर्फ के गेंद को बर्फ में लुढ़काने से उसके बढ़ने की क्रिया। हाँ, बर्फ की शक्ल कैसी भी हो, वह बर्फ ही है। परन्तु डी० एन० ए० को बनाने वाले केवल रासायनिक द्रव्य होते हैं परन्तु जब वे डी० एन० ए० के पैटर्न में बुन दिए जाते हैं तब वे एक अद्भुत जटिलता वाली तथा अनन्त क्षमता वाली संरचना की सृष्टि करते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह अणु एन्ज़ाइमों का निर्माण केवल इसलिए नहीं करता है कि वे कोशिका को क्रियाशील रखने के लिए घरेलू कार्य करते रहें बल्कि बल्कि इसलिए भी कि वे उसके वंश के चालू रहने में सहायक हों। डी० एन०ए० द्वारा ठीक प्रकार के एन्ज़ाइम अणुओं का ठीक संख्या में बनाया जाना ताकि वे डी० एन० ए० की ठीक मात्रा का निर्माण कर सकें, साइबर्नेटिक की एक अच्छी समस्या है।

यह बड़े मार्के की बात है कि डॉ० कार्नबर्ग, डी० एन० ए० की अनुपस्थिति में अपने एन्ज़ाइमों की सहायता से डी०एन०ए० का निर्माण करने में असमर्थ हैं।

एक भिन्न स्रोत से इस बात का एक और प्रमाण मिला है कि जीवित वस्तुओं के दीर्घाकार अणुओं का निर्माण तभी सम्भव है जब एक अणु पहले से ही प्रस्तुत हो ताकि वह एक पैटर्न का काम दे सके।

स्टार्च एक बहुत बड़ा अणु है जो आलू जैसे पौधों में, सैकड़ों लघुतर ग्लूकोज अणुओं के संयोग से बनता है। जीव रसायनवेत्ता दम्पति डॉ० कार्ल कोरी और डॉ० गर्टी कोरी ने जो सम्मिलित नोबल पुरस्कार से सम्मानित होने वाले, इतिहास में तीसरे दम्पति हैं, आलू द्वारा स्टार्च बनाने के करिश्मे को दोहराया परन्तु उन्होंने एक परीक्षण नली में स्टार्च बनाया। उन्होंने एक एन्ज़ाइम संपाक को परिशुद्ध किया और उनका विश्वास था कि वह एन्ज़ाइम सैकड़ों ग्लूकोज़ अणुओं को जोड़कर स्टार्च बनायेगा। परन्तु उनके सारे प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हुए। अंत में उन्होंने एन्ज़ाइम और ग्लूकोज़ के घोल में स्टार्च की अत्यन्त अल्प मात्रा मिलाई और तत्काल ग्लूकोज़ अणु एकत्र होकर स्टार्च का प्रचुर मात्रा बनाने लगे।

यह बहुत सम्भव है कि गर्भाधानित अंडा, यहाँ तक कि अति सूक्ष्म मानव अंडा भी उन अधिकांश प्रोटीनों तथा अणुओं से युक्त होता है जो वयस्क में पाये जाते हैं। ये अणु उसमें पैटर्नों के रूप में होते हैं जिनके आधार पर वयस्क की अरबों कोशिकाओं में पाये जाने वाले अनेक प्रकार के पदार्थों की रचना होती

है। चूंकि अति सूक्ष्म अंडे की तुलना में भी अणु अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं अतः उस सूक्ष्म प्रोटोप्लाज्म-कण (अंडा) में भी अरबों अणु फिट हो सकते हैं।

बारह वर्ष पूर्व लाइसेन्को ने अपने साथी जीवशास्त्रियों के सम्मुख यह फ़तवा दिया था, "मेन्डेलवाद, मार्गनवाद और वीज़मानवाद को विज्ञान से निष्कासित करने के बाद ही हम जैव विज्ञान से संयोगों को निष्कासित कर सकेंगे।" इन बारह वर्षों में, आनुवंशिकी प्रक्रिया को समझने के विषय में बड़े कदम उठाये गये हैं परन्तु हमें एक भी प्रमाण इसके लिये नहीं मिला है कि डी०एन० ए० अणु के बाहर घटित होने वाले वातावरणीय प्रभाव आनुवंशिक परिवर्तन कर सकते हैं या प्रकृति का कार्य-कलाप संयोगों पर नहीं बल्कि पंचवर्षीय योजनाओं पर आधारित है। फिर भी लाइसेंको का बोलबाला है। ऐसा प्रतीत होता है वे ख्रुश्चेव के शासन में भी उतने ही प्रभावशाली हैं जितने स्टालिन के शासन में थे। वे ही इस बात का निर्णय करते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में कौन वैज्ञानिक भाग लेंगे। कम से कम दो वैज्ञानिक पत्रों के सम्पादकों को उन्होंने अपने पक्ष में कर रखा है और जो सम्पादकों पर हावी हो सकता है वह विज्ञान पर भी हावी हो सकता है। अनुसंधान की दिशा निर्धारण करने में वैज्ञानिक प्रकाशनों के सम्पादकों का बहुत बड़ा प्रभाव होता है। जिस आविष्कार को कोई भी सम्पादक प्रकाशित न करे वह न होने के बराबर है। जिस वैज्ञानिक के पास अपने आविष्कारों को प्रकाश में लाने के लिए किसी पत्रिका का सहारा नहीं है वह उस आदमी की तरह है जिसे पूर्णतया पृथक् द्वीप में एक खजाना मिल जाय। कोई सम्पादक या कोई सत्ता, जो विवादास्पद या अप्रिय तथ्यों पर पर्दा डालती है वह अन्ततोगत्वा सारे विज्ञान पर पर्दा डालती है।

वैज्ञानिक विषयों पर विवाद होना कोई नयी बात नहीं है। यह बहुत सम्भव है कि जीवित कोशिका के जटिल जाल को टटोलने वाले दो दल परस्पर-विरोधी प्रमाण और व्याख्याएँ प्रस्तुत करें। ऐसा भी नहीं है कि ऐसे विवाद निश्चित रूप से हानिकर हैं। प्रकृति के किसी गुप्त रहस्य का उद्‌घाटन एक हर्षोत्पादक घटना है परन्तु कुछ वैज्ञानिकों को थोड़ा और मजा आ जाता है यदि ऐसे आविष्कार से, विपरीत मत रखने का दुस्साहस करने वाले उनके मंद बुद्धि सहयोगियों को मुँह की खानी पड़े। कभी-कभी वह वैज्ञानिक भी जिसने सत्य की खोज में अपने को पूर्ण रूप से समर्पित कर दिया है, विजय की लालसा से विवाद में बड़े उत्साह से भाग लेता है। ऐसे विवाद प्रायः बहुत जीवन्त रूप ले लेते हैं। दर्शक भी दोनों पक्षों के समर्थक बन जाते हैं। जिह्वा या परीक्षण नली के विशेष रूप से कारगर प्रहारों की, करतल ध्वनि द्वारा सराहना की जाती है। प्रतियोगियों को बढ़ावा दिया जाता है। यदि पेशे के गौरव का ध्यान न होता तो विजय किसकी होगी, इस पर शायद दाव भी लगा दिया जाता।

परन्तु जब एक तानाशाही देश की सर्वोच्च नीति ही विवाद में उलझी हुई हो तो मामला बहुत गम्भीर हो जाता है। देश पराजित होने का खतरा मोल नहीं ले सकता।

अपने पक्ष को मज़बूत बनाने के लिये सोवियत अधिकारी किस निम्न स्तर तक जा सकते हैं, यह इस बात से प्रकट है कि उन्होंने एक अविश्वसनीय आस्ट्रियन वैज्ञानिक, डॉ० कैमरर को सोवियत जीवविज्ञान का एक नायक बना दिया। कहना न होगा कि अर्जित लक्षणों की आनुवंशिकता में उसे विश्वास था। उसका इसमें विश्वास ही नहीं था, उसने उसका प्रमाण भी दिया। उसने दावा किया कि सैलामैण्डरों (ठंडे रक्त और चार पाँवों वाले लघु प्राणी) के वातावरण का रंग परिवर्तन कर उसने उनके रंगों में परिवर्तन पैदा किया। (कुछ सैलामैण्डर गिरगिट की तरह रंग बदलकर अपने वातावरण के अनुरूप हो जाते हैं।) कैमरर ने दावा किया कि सैलामैण्डरों की कई पीढ़ियों को एक ही रंग वाले वातावरण में रखकर वह उनमें स्थायी आनुवंशिक रंग परिवर्तन उत्पन्न करने में सफल हुआ। कुशल आनुवंशिकीवेत्ता काफी प्रसिद्ध हो गया परन्तु उसके दुर्भाग्य से किसी को यह सूझी कि वह उस न्यूनतम अवधि को जो सैलामैन्डरों की एक पीढ़ी के लिये आवश्यक है, सैलामैण्डरों की उतनी पीढ़ियों से गुणा करे जितनी पीढ़ियों के अध्ययन करने का दावा कैमरर ने किया था। इस तरह से जो समय मालूम किया गया वह उस समय से बहुत अधिक था जो उन सारी पीढ़ियों के लिये आवश्यक था। इससे भी बढ़कर अपमानजनक बात, एक अमेरिकी जीव-वैज्ञानिक द्वारा किया गया वह भण्डाफोड़ था जिसमें उसने बताया कि यह सिद्ध करने के लिये कि वातावरण के प्रभाव से मेंढक काले किये जा सकते हैं, उनकी त्वचा के नीचे काली स्याही का इंजेक्शन दिया गया था।

इस भण्डाफोड़ के बाद कैमरर सोवियत संघ भाग गया जहां उसने आत्म-हत्या कर ली। महान् आनुवंशिकीवेत्ता डॉ० रिचर्ड बी० गोल्डस्मिथ के अनुसार रूस में बड़े पैमाने पर एक चलचित्र दिखाया गया था जिसमें नायक का जीवन कैमरर के जीवन के अनुरूप चित्रित किया गया था। बोर्जुआ खलनायकों ने नायक प्रायोगिक जीवों में रंगों का इंजेक्शन देकर उसे अपमानित करने का षड्यंत्र रचा था।

सारे विवाद का खेदपूर्ण पहलू यह है कि एक वैज्ञानिक तर्क के विषय में इतनी धींगा-मस्ती की गयी। यदि कोई इस बात का प्रमाण लाये कि जीन के बाहर किये गये परिवर्तनों से एक नया मेण्डेलीय लक्षण उत्पन्न किया गया है तो कोई भी स्वतंत्र जीवशास्त्री तनिक भी विचलित नहीं होगा। अल्पतम सम्भव अवधि के भीतर दर्जनों भिन्न प्रयोगशालाओं में इस दावे का परीक्षण कर लिया जायगा और यदि दावे की पुष्टि हुई तो हमें केवल यह करना होगा कि इस

सम्पूर्ण समस्या के विषय में हम अपनी विचारधारा को परिवर्तित कर लें। तथ्यों के प्रकाश में पहले भी हमने अपनी धारणाओं को बदला है।

वास्तव में कुछ प्रमाण ऐसे हैं जिनसे पता चलता है कि कुछ, परन्तु बहुत कम, मामलों में आनुवंशिक लक्षण, न्यूक्लियस के बाहर साइटोप्लाज़्म में भी अवस्थित हो सकते हैं। परन्तु इस तथाकथित साइटोप्लाज़्मी आनुवंशिकता पर भी बाहरी वातावरण का प्रभाव ठीक उसी तरह नहीं पड़ता है जिस तरह क्रोमोसोमीय डी० एन० ए० द्वारा रचित आनुवंशिक लक्षणों पर नहीं पड़ता है।

अभी हमने साइटोप्लाज़्मी आनुवंशिकता की जीव-रासायनिक प्रक्रिया को कुरेदना भी आरम्भ नहीं किया है। यही बात डी० एन० ए० की जीव-रासायनिक प्रक्रिया के विषय में भी सत्य है। डी० एन० ए० की संरचना और उसके द्वारा निर्मित विशेष प्रोटीन अणु के बीच क्या सम्बन्ध है, यह सबसे बड़ी चुनौती हमारे सामने है।

हम केवल यह आशा कर सकते हैं कि इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने से पूर्व डी० एन० ए० को उन विकिरणों से कोई क्षति नहीं पहुँचेगी और वे ज्यों-के-त्यों बने रहेंगे, जो उन पर निरंतर होते रहते हैं। क्योंकि डी० एन० ए० संरचना की यह अच्छाई भी है और बुराई भी कि अन्य बातों की तरह उस पर विकिरण का भी बहुत जल्दी प्रभाव पड़ता है। किसी आदिकालीन एक कोशिका वाले जीव से हमारे विकास का कारण डी० एन० ए०-संरचना की उत्परिवर्तनशीलता है। यदि उन जीवों के मूल डी० एन० ए० अणु असाधारण रूप से स्थायी रहे होते तो उनसे ठीक उनके जैसे ही जीव उत्पन्न हुए होते। तब उत्परिवर्तनऔर प्राकृतिक चयन द्वारा विकास सम्भव न होता। डी०एन० ए० की उत्परिवर्तनशीलता की खराबी यह है कि अधिकांश म्यूटेशन (उत्परिवर्तन) या तो घातक होते हैं या हानिकर। परन्तु स्वच्छंद प्रकृति म्यूटेशनों और उपयोगी म्यूटेशनों के चयन कालों में एक अच्छा संतुलन कायम करने में सफल हुई है।

हमें निश्चित रूप से नहीं मालूम है कि प्राकृतिक म्यूटेशनों का क्या कारण है। पौधों और प्राणियों पर सब प्रकार के सक्षम प्राकृतिक विकिरण पड़ते रहते हैं। विकिरणशील खनिजों रेडियम, यूरेनियम और थोरियम से उच्च ऊर्जा वाले विकिरण होते रहते हैं जैसे फूल से सुगंध उड़ती रहती है। (चूँकि विकिरणशील तत्त्वों का स्थायी गति से विघटन होता रहता है अतः इन खनिजों की जो मात्रा आज पायी जाती है वह उस मात्रा की अल्पांश है जो युगों पूर्व रही होगी।) कास्मिक किरणों की बौछार निरंतर हम पर होती रहती है। हमारी पृथ्वी अल्ट्रा वायलेट किरणों में स्नान करती रहती है। यदि इन स्रोतों में से किसी एक से आने वाली ऊर्जा के रास्ते में किसी पौधे या प्राणी की जनन-कोशिका का कोई जीन पड़ जाय तो प्राकृतिक म्यूटेशन होने की बहुत सम्भावना हो सकती है। परन्तु यह अभी

भी कल्पना का विषय है। विकिरण ऊर्जा के अलावा क्रोमोसोम के भीतर होने वाले तनावों के कारण भी तत्काल म्यूटेशन हो सकता है। एक वर्तमान मत यह भी है कि वह मुख्यतः अणुओं की बेतरतीब टक्करों से उत्पन्न होता है। दूसरी सम्भावना यह है कि उपापचयन के कारण उत्पन्न कुछ रासायनिक द्रव्यों के एकत्र होने से म्यूटेशन घटित होते हैं।

परमाणु के केन्द्रक से ऊर्जा प्राप्त करने में हमारी सफलता के कारण पृथ्वी-तल पर आयन उत्पन्न करने वाले विकिरणों का आधिक्य हो गया है और चूँकि हम जानते हैं कि ऐसे विकिरणों से म्यूटेशनों की उत्पत्ति होती है अतः हममें से बहुत से लोग चिंतित हैं।

विज्ञान का इतिहास, किसी नये आविष्कार के खतरे को समझाने में हमारी असफलता के उदाहरणों से भरा है। एक्स किरणों और रेडियोधर्मिता के खतरों को समझने की हमारी असफलता के कारण बीसियों लोगों को अपने अंगों और जीवन से हाथ धोना पड़ा। बीस वर्ष पहले तक हम परमाणु त्वरकों के खतरों के बारे में अंधकार में थे। बहुत से भौतिक विज्ञान-वेत्ताओं को अपनी असावधानी का मूल्य अपनी आँख के कोरकों के रूप में चुकाना पड़ा।

कोई भी व्यक्ति जिसका विचार जानने योग्य है, यह भविष्यवाणी करने को तैयार नहीं है कि पृथ्वीतल पर बढ़ते हुए विकिरणशील पदार्थों का, आनेवाली शताब्दियों में जनन-द्रव्यों पर क्या प्रभाव पड़ेगा। एक विश्वसनीय अनुमान के अनुसार पिछले चार वर्षों में हम प्रकृति की अपेक्षा पंद्रह गुना अधिक तेजी के साथ विकिरणशील कार्बन ($C^{१४}$) उत्पन्न करते रहे हैं।

$C^{१४}$ के बारे में गर्हित बात यह है कि वह बहुत दिनों तक कायम रहता है। यदि हम सदा के लिये परमाण्वीय विस्फोटों को बन्द भी कर दें तो भी १०,००० वर्ष बाद भी पृथ्वीतल पर $C^{१४}$ की मात्रा उससे अधिक होगी जो धरती को कम्पित करने वाले १९४५ के उस दिन के पहले थी जब न्यू मेक्सिको के रेगिस्तान में प्रथम परमाणु बम का विस्फोट हुआ।

चूँकि कार्बन वह धागा है जिससे प्रत्येक जीवित वस्तु के टिशू बुने गये हैं अतः परमाणु विस्फोटों द्वारा जो अतिरिक्त $C^{१४}$ हम पैदा कर रहे हैं वे युगों तक हमारे जनन-द्रव्यों में पाये जायेंगे। इस अतिरिक्त विकिरण का वास्तव में क्या प्रभाव पड़ेगा, यह वैज्ञानिकों के बीच विवाद का विषय है। कुछ का मत है कि चूँकि हमारे शरीर में इसका स्तर, १९४५ से पहले वाले स्तर से कुछ ही अधिक है, अतः इसका प्रभाव उपेक्षणीय होगा। दूसरों को यह आशंका है कि इसके कारण अधिक लोगों को ल्यूकेमिया की बीमारी होगी, हमारे बीच विकराल आकृति वाले लोगों की अधिक संख्या होगी, और मृत अवस्था में पैदा होने वाले बच्चों की संख्या बढ़ जायगी। यह आशंका बहुत व्यापक है कि हमारे जनन-द्रव्य

की विशिष्टता ही संकट में पड़ जायगी। इस आशंका के लिए कोई औचित्य है या नहीं, यह बात शायद हज़ारों वर्ष तक नहीं मालूम हो सकती। यह विचार दिल दहलाने वाला है कि आज के भविष्यवक्ताओं की सत्यता हजारों वर्ष बाद सिद्ध होगी जब कि क्षति अंतिम रूप से हो चुकी होगी। हम शायद इतने बड़े पैमाने पर नर-संहार के लिए साधन जुटा रहे हैं जिसकी तुलना में हाल की राक्षसी घटनाएँ जिनके लिए यह शब्द (नर-संहार) गढ़ा गया था, बौनी प्रतीत होती हैं।

परन्तु हम में से कुछ को इस विषय में बहुत कम अनिश्चितता है कि यदि पूरे जोर-शोर के साथ हाइड्रोजन युद्ध हुआ तो जीवन पर क्या बीतेगी। इस विभीषिका से बचे रहने वालों को तत्काल और आगे चल कर अति सम्वर्धित विकिरण के कारण इतनी अधिक जनन-क्षति का शिकार होना पड़ेगा, कि मानव जाति का सदा के लिए विनाश हो सकता है। तब अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए इस बात की आवश्यकता होगी कि जनन-संरचना बहुत स्थायी हो और प्रजनन की क्षमता बहुत अधिक हो। ऐसी दशा में जल में वास के लिए घोड़े की नाल जैसी आकृति वाले केकड़े और स्थल पर पर वास के लिए काकरोच उम्मीदवार होंगे। हाइड्रोजन युद्ध के लिए उचित नारा होगा, "विश्व को काकरोचों के लिए सुरक्षित बनाओ।"

विज्ञान आगे बढ़ता है परन्तु धीरे-धीरे
एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक रेंगता हुआ।
—टेनिसन

३. वाइरस तथा कैंसर

वाइरस वाली कुछ बीमारियाँ और वह जटिल रोग जिसे कैंसर कहते हैं, हमारी घोरतम विपत्तियाँ हैं। अधिकाधिक मिल रहे प्रमाणों से पता चलता है कि ये दोनों रोग केवल भयंकरता की ही दृष्टि से नहीं, बल्कि अन्य कई दृष्टियों से भी एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कई महत्त्वपूर्ण कारणों में वाइरस भी एक ऐसा कारण है जो सामान्य वृद्धि को उसके सुनिश्चित पथ से मोड़ कर प्रचुरोत्पादन के उस अराजकतापूर्ण जंगल में ले जा सकता है जहाँ से वापस आना असम्भव है।

इस विचार ने कैसे जन्म लिया कि कैंसर वाइरसों के कारण होता है? किसी विचार के उद्‌गम का पता लगाना उन पकड़ में न आने वाले लक्ष्यों में से एक है जिनका सामना इतिहासकार को करना पड़ता है। वैज्ञानिक तथ्यों का क्रम आसानी से निर्धारित किया जा सकता है। वे जैसे ही सुस्थापित हो जाते हैं—और कभी-कभी उससे पहले भी—वैसे ही उन्हें ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी पत्रिकाओं में प्रकाशित कर दिया जाता है कि सारी दुनिया उनसे परिचित हो जाय। परन्तु संकोचशील परिकल्पना या अन्तःप्रज्ञा दृष्टि, जिसका तत्काल परीक्षण नहीं हो सकता, समय के गलियारों में प्रतिध्वनि की तरह एक मस्तिष्क से दूसरे मस्तिष्क तक पहुँचती रहती है और प्रायः इस प्रतिध्वनि के उद्‌गम का पता नहीं चलता। इस परिकल्पना का इतिहास कि एक प्रकार का वाइरस कैंसर का कारण है लगभग उतना ही पुराना है जितना वाइरस के अस्तित्व का हमारा ज्ञान।

वाइरस क्या है और उसका पता कैसे चला?

पौधों पर भी जीवाणुओं का आक्रमण वैसे ही होता है जैसे प्राणियों पर। अंतर केवल यह है कि इम्यूनिटी (निरापदता) द्वारा अपनी प्रतिरक्षा करने में

पौधे असमर्थ हैं। तम्बाकू क पत्तों की एक बीमारी ने १८६० में रूसी बैक्टीरिया शास्त्री, मित्री इवानोस्की का ध्यान आकर्षित किया। वे क्रीमिया गये, जहाँ तम्बाकू की खेती एक ऐसी महामारी का शिकार थी, जिससे तम्बाकू की चौड़ी और हरी पत्तियाँ चित्तीदार हो गयी थीं और सूख रही थीं। तम्बाकू की खेती करने वाले उस क्षेत्र के तातार इस बीमारी को संगमर्मर की बीमारी कहते थे। साधारण लोगों को वे चित्तीदार पत्तियाँ ऐसी लगती थीं मानो संगमर्मर की पच्चीकारी हो। इसीलिए तम्बाकू की इस बीमारी का नाम तम्बाकू का पच्चीदार रोग हो गया।

इवानोस्की ने मालूम किया कि तम्बाकू की यह बीमारी संक्रामक है। एक बीमार पौधे का रस निचोड़ कर जब एक स्वस्थ पत्ती पर छिड़का गया तब वह पत्ती भी रुग्ण हो गयी। इस तथ्य ने एक डच बैक्टीरिया-शास्त्री द्वारा इससे पूर्व मालूम किये गये तथ्य की पुष्टि की। उसने भी मालूम किया था कि यह बीमारी संक्रामक है और उसने तो यह भी दावा किया था कि संक्रमण का कारण एक प्रकार का बैक्टीरिया है। इसके लिए उसके द्वारा प्रस्तुत किया गया प्रमाण यह था कि छानने वाले कागज की दो परतों में से होकर गुजरने के बाद रस संक्रामक नहीं रह जाता था। आगे चल कर मालूम हुआ कि इस सबूत में एक बहुत बड़ा टेक्नीकल दोष था और इस कारण इस वैज्ञानिक को भुला दिया गया।

इवानोस्की ने भी, जो ऐसा लगता है कि एक निपुण प्रयोगकर्ता थे, यह मालूम करने के लिए कि संक्रमण बैक्टीरिया के कारण होता है या नहीं, परीक्षण किया परन्तु बैक्टीरिया को छानने के लिए उन्होंने इसके लिए बिना चमक वाले पोर्सलेन प्याले का इस्तेमाल किया। यह छलनी सब प्रकार के बैक्टीरिया को रोक लेती है परन्तु उन्होंने पाया कि तम्बाकू की बीमारी वाले बैक्टीरिया इसमें से होकर निकल गये। अतः उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि संक्रमण उत्पन्न करने वाला एजेंट एक प्रकार का घुला हुआ विष है। यह निष्कर्ष यद्यपि साहसपूर्ण था, फिर भी गलत था। वास्तव में यह धारणा कि एक घुला हुआ विष किसी स्वस्थ कोशिका को संक्रमित कर उसे और अधिक विष पैदा करने के लिए बाध्य कर सकता है, उस जैव वास्तविकता से भी अधिक क्रांतिकारी थी जो अगले चार दशकों में धीरे-धीरे प्रकट हुई।

एक दूसरे बैक्टीरिया-शास्त्री बेजर्निक बे इवानोस्की के प्रयोग को लगभग सात वर्ष बाद दोहराया और उसकी पुष्टि की। उसने उस संक्रामक एजेंट को, जो पोर्सलेन के सूक्ष्म छिद्रों में से होकर निकल सकता था, द्रव संक्रामक एजेंट कहा। शीघ्र ही सिद्ध किया गया कि प्राणियों की एक बीमारी—पशुओं के खुर और मुँह की बीमारी—का संक्रामक एजेंट भी इसी तरह से न पकड़ में आने वाला है। उसके बाद हमारी भाषा में[1] 'छानने योग्य वाइरस' शब्द-समूह का

प्रयोग होने लगा क्योंकि पता चला कि अनेक प्रकार की बीमारियों के भी जनक वाइरस हैं। वाइरसों के आक्रमण के कारण ही हमें रेबीज़ (पागल कुत्ते के काटने से होने वाली बीमारी), चेचक, पीतज्वर, तीन-दिन-वाला ज्वर, शैशव लकवा, खसरा, कनपेड़, इन्फ्लूएंज़ा, वाइरस न्यूमोनिया या सामान्य जुकाम आदि रोग होते हैं।

कछ वाइरस असाधारण रूप में स्थायी होते हैं परन्तु कुछ वाइरस जो परिवर्तनशील हैं कभी-कभी सहसा विनाशकारी महामारियों को फैला देते हैं जैसे १९१८ की इन्फ्लूएंजा महामारी।

कभी-कभी नयी प्रतीत होने वाली बीमारी वास्तव में किसी वाइरस के सहसा उग्र विषैले रूप में परिवर्तित हो जाने के कारण अस्तित्व में आती है। ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसी बीमारियों में सबसे अधिक दिलचस्प बीमारी वह 'स्वेद रोग' था जो, ऐसा लगता है पहले पहल १४८५ में सारे इंगलैण्ड में, बास्वर्थ फील्ड की लड़ाई के बाद, फैल गया। रिच्मांड के अर्ल ने इंगलैंड की गद्दी के लिए अपने को मजबूत बनाने के लिए फ्रांस से भाड़े के सिपाहियों को मंगाया। शेक्सपीयर के अनुसार बेचारा रिचर्ड तृतीय युद्ध के दौरान घोड़े से गिर पड़ा और यद्यपि एक घोड़े के बदले में अपना राज्य देना चाहा और नये वाहन के लिये यह निश्चय ही इतिहास का सबसे बड़ा सौदा था, फिर भी उसने अपना सिर और मुकुट दोनों ही बास्वर्थ फील्ड पर खो दिया। इस 'कुत्ते' का काम तमाम करने के बाद विजयी अर्ल हेनरी सप्तम हो गये और अपने भाड़े के सिपाहियों तथा उनके साथ शायद 'स्वेद रोग' को साथ लेकर लन्दन में दाखिल हुए। यह घातक महामारी लन्दन में ऐसी तिव्रता के साथ फैली, जैसे सूखे चीड़ के वन में आग फैलती है। इस रोग से ग्रस्त लोगों को बहुत तेज़ ज्वर चढ़ा, उनका मुंह लाल हो गया और जैसा कि रोग के नाम से विदित है, उन्हें बहुत अधिक पसीना हुआ। एक दो दिन के भीतर ही प्रायः मृत्यु हो जाती थी। लन्दन के तीन लार्ड मेयरों की थोड़े ही दिनों के भीतर क्रम से मृत्यु हो गयी। उसके पूर्व यह बीमारी अज्ञात थी और अस्सी वर्ष तक कभी-कभी फैलती रही परन्तु उसके बाद इसका लोप हो गया।

मेलबोर्न विश्वविद्यालय के सर एफ० एम० बर्नेट ने जो वाइरस के सर्वोच्च अधिकारियों में से एक हैं, अपनी पुस्तक 'वाइरस और मनुष्य' में लिखा है कि स्वेद रोग 'निश्चय ही एक वाइरस रोग' था। स्वर्गीय डॉ० हैन्स जिन्सर ने, जो टाइफस ज्वर के एक विशेषज्ञ थे, अपनी पुस्तक, 'चूहे, जूँ, और इतिहास' में

---

१. चूँकि छानने का मतलब है ठोस को द्रव से अलग करना। अतः इस सूक्ष्म संक्रामक एजेण्ट के वर्णन के लिए 'न छानने योग्य वाइरस' पद अधिक उपयुक्त हुआ होता।

लिखा है कि स्वेद रोग 'सम्भवतः टाइफस' था। परन्तु टाइफस, वाइरसीय नहीं बल्कि रिकेटीय संक्रमण से होता है। इस तरह हम पाते हैं कि पाँच सौ वर्ष पुराने रोग के निदान में विशेषज्ञों में उतना ही मतभेद हो सकता है जितना किसी सामयिक रोग के निदान में।

हमें कैसे पता चलता है कि किसी वाइरस में म्यूटेशन की क्षमता है। इसका असंदिग्ध प्रमाण हमें पौधों और प्राणियों की वाइरसीय बीमारियों के अध्ययन से नहीं मिला, बल्कि एक बिल्कुल अप्रत्याशित क्षेत्र, बैक्टीरिया की वाइरसीय बीमारियों से मिला क्योंकि बैक्टीरिया का शिकार करने वाले परजीवी भी हैं। जैसा कि जोनथन स्विफ्ट ने लिखा—

तो हां प्रकृति-विज्ञ पाते हैं,
पिस्सुओं का शिकार छोटे पिस्सू करते हैं,
और इनका शिकार इनसे छोटे पिस्सू करते हैं,
और यह सिलसिला अन्तहीन है।

(स्विफ्ट को क्या पता था कि कुछ पिस्सुओं का आकार अनन्त सूक्ष्मता के बहुत निकट तक पहुँच सकता है। हैं के ऊपर जो बिन्दी है उसका आकार लगभग तीन करोड़ बैक्टीरियायी वाइरसों के सम्मिलित आकार के बराबर है।)

जैसा कि विज्ञान के इतिहास में प्रायः होता है, बैक्टीरियायी वाइरसों का आविष्कार एक से अधिक बार हुआ। सर्वप्रथम उनका आविष्कार १९१५ में अंग्रेज बैक्टीरिया-शास्त्री एफ० डब्ल्यू० ट्वार्ट ने किया जिसने बैक्टीरिया से आच्छादित ऐगार प्लेटों पर कुछ साफ स्थलों को देखा। इन साफ स्थलों से छनित द्रव्य तैयार करके उसकी सहायता से ताजे बैक्टीरिया को फिर से संक्रमित करने में वह सफल हुआ। इस तथ्य कीव याख्या उसने इस तरह से की कि उसके इस प्रयोग में सम्भव है उसी तरह के वाइरस हों जैसे पौधों और प्राणियों के छानने योग्य वाइरस होते हैं। दुर्भाग्यवश उसने इस विषयों में और अधिक काम नहीं किया। उस समय हो रहे विश्वयुद्ध ने उसके ऊपर और अधिक आवश्यक उत्तरदायित्व डाल दिया।

बैक्टीरियायी वाइरसों का दूसरा आविष्कर्ता कनाडा का एक बैक्टीरिया-शास्त्री फेलिक्स डी' हेरेल था जो पेरिस के पास्चर इंस्टीट्यूट में काम कर रहा था और जिसका नाम आविष्कार के साथ जुड़ा हुआ है। आविष्कार का प्रेरणा-स्रोत उस संस्थान की परम्परा तथा उसके गजब के प्रतिभाशाली संस्थापक का व्यक्तित्व था। पास्चर की दृष्टि में शोध-संस्थान को व्यावहारिक समस्याओं से असम्बद्ध एक एकाकी स्थल नहीं होना चाहिये बल्कि उसे एक ऐसा स्थान होना चाहियेज हाँ पूर्व प्राप्त ज्ञान के उपयोग से हुए लाभ से शोध-कार्य का व्यय वहन किया जाता रहे।

पास्चर की व्यावहारिकता का सबसे बड़ा उदाहरण है आस्ट्रेलिया में खरगोशों से होने वाली हानि का नियंत्रण करने का उनका प्रयत्न। खरगोशों के अभिशाप से त्राण के लिए जो इतनी तेजी से बढ़ रहे थे कि लगता था आदमियों को हटा कर आस्ट्रेलिया में उनका स्थान वे स्वयं ले लेंगे, न्यू साउथ वेल्स की सरकार ने २५,००० पौंड के पुरस्कार की घोषणा की। इस चुनौती ने पास्चर को आकर्षित किया और उन्होंने एक सहायक, ल्वायर को चिकन कालरा बैसिलस से लैस करके वहाँ इस आशा से भेजा कि खरगोशों में एक पशु महामारी फैला दी जायगी। दुर्भाग्यवश यह योजना खटाई में पड़ गयी। बैसिलस साथ में होने के कारण ल्वायर को वहां की भूमि पर पैर नहीं रखने दिया गया। (खरगोशों से होने वाली तबाही के जैव नियंत्रण की पास्चरी योजना, मिक्सोमेटासिस वाइरस द्वारा आस्ट्रेलिया में साठ साल बाद कार्यान्वित की जा सकी।)

डी' हेरेल भी एक व्यावहारिक समस्या को सुलझा रहा था जिसके दौरान उसने एक नयी बात या यों कहिये कि एक नये प्रकार क जीवित प्राणी को देखा। १९११ में वह मेक्सिको में टिड्डियों के बैक्टीरियायी संक्रमण का अध्ययन कर रहा था। टिड्डियों के नियंत्रण के लिये यह योजना बनायी गयी कि उनमें इस पशु महामारी को फैलाया जाय जिसका लक्षण था, अंतड़ी में गड़बड़ी पैदा होना। इसे प्रभावकारी ढंग से करने के उद्देश्य से इस महामारी के जनक बैसिलस का अध्ययन पास्चर संस्थान में किया जा रहा था। डी' हेरेल ने देखा कि कभी-कभी बैक्टीरियायी बस्तियों के किनारे खण्डित थे या कभी-कभी बैक्टीरियायी क्षेत्र में उनसे मुक्त स्थल प्रकट होते थे।

सम्वर्धन की इस अनियमितता के स्पष्टीकरण के लिए डी' हेरेल ने यह परिकल्पना प्रस्तुत की कि, जिस बैसिलस को उसने देखा, वह रोग उत्पन्न करने वाला असली बैसिलस नहीं था बल्कि केवल एक सम्बन्धित जीवाणु था। उसका अनुमान था कि रोग पैदा करने वाले असली बैसिलस दिखायी देने वाले बैक्टीरिया नहीं उत्पन्न करते। सम्बन्धित बैसिलस के सम्वर्धन (पैटर्न) में वह जो अनियमितता पैदा करता है, उसी से उसके अस्तित्व का पता चलता है।

डी' हेरेल ने यह मालूम करने के लिए कि मानव रोगों में संक्रामक एजेंटों की ऐसी द्वैधता होती है या नहीं, अध्ययन का एक लम्बा सिलसिला आरम्भ किया। उसने अपना ध्यान बैसिलीय डिसेन्ट्री टाइफाइड ज्वर पर केन्द्रित किया। रोगोत्पादक बैसिलस और उसी रोग से ग्रस्त मनुष्य के मल के निचोड़ का एक ही साथ इंजेक्शन देकर उसने प्राणियों में वही रोग उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। उसने सोचा कि ऐसे निचोड़ सम्बन्धित जीवाणु के स्रोत हो सकते

हैं। साथ ही उसने यह भी मालूम करने का प्रयत्न किया कि मल के निचोड़ों का स्वयं बैक्टीरिया के सम्वर्धन पर क्या प्रभाव पड़ता है और इस तरह एक गलत परिकल्पना के कारण एक वास्तविक आविष्कार हो सका। पास्चर संस्थान के अस्पताल में बैसिलीय डिसेन्ट्री की एक गम्भीर बीमारी से एक रोगी १८१६ में अच्छा हो रहा था। उसके मल के निचोड़ को इस तरह से छाना गया कि उसमें बैक्टीरिया न रह जायें और तब उसे डिसेन्ट्री बैसिली की बड़ी ढेरी में डाला गया। दूसरे दिन बैसिली का कहीं पता नहीं था। और बैसिली डाले गये। उनका विघटन भी लगभग दस घंटों में हो गया। तब उस स्वच्छ घोल की केवल एक बूंद बैसिली की एक बड़ी ढेरी में डाली गयी। पुनः एक ऐसा स्वच्छ घोल प्राप्त हुआ मानो उसमें कभी बैसिली थे ही नहीं। प्रत्येक स्थानान्तरण के साथ मारक एजेंट अधिक शक्तिशाली होता गया, मानो वह अपने शिकार पर पलता और मजबूत होता है। इसलिये इसे बैक्टीरियोफेज अर्थात् बैक्टीरिया-भक्षक कहते हैं। छानने पर बैक्टीरियोफेज ने वाइरस की तरह व्यवहार किया अर्थात् सूक्ष्मतम छिद्रों वाली छलनी में से होकर भी वह गुजर गया। इससे डी' हेरेल को यह संकेत मिला कि वह एक अल्ट्रावाइरस है जो अतिथि कोशिकाओं को नष्ट कर सम्वर्धित होता है।

बैक्टीरियायी क्षेत्रों में एक वास्तविक नवीन आविष्कार के रूप में इस तथ्य और उसके स्पष्टीकरण का सम्मान किया गया अर्थात् फौरन उसे धता बता दिया गया।

नये विचारों को स्वीकार करने में वैज्ञानिकों की अनिच्छा आरम्भ में जितनी आश्चर्यजनक प्रतीत होती है उतनी वह है नहीं। एक वास्तविक नया विचार उन सर्वाधिक अप्रिय बातों में से एक है जिन्हें एक आदमी दूसरे पर थोप सकता है। ग्रहण करने वाले के अहंकार को इससे ठेस पहुँचती है। वह सोचता है कि यदि वास्तव में वह एक सत्य और योग्य विचार है तो सर्वप्रथम उसके मस्तिष्क में वह क्यों नहीं उदित हुआ ? अतः स्पष्ट है कि प्रत्येक नवीन विचार की आलोचनात्मक छानबीन होगी। साथ ही नाक भौं सिकोड़ने वाले वैज्ञानिकों का इस बात के निर्धारण में काफी प्रभाव होता है कि किसी नये विचार का कितना स्वागत किया जाय और उनका मिज़ाज हमेशा ठीक नहीं होता। इन लोगों की प्रसिद्धि प्रायः इनकी मौलिकता के बल पर नहीं होती बल्कि ठीक अपने से पहले वाली पीढ़ी के विचारों को विकसित और सम्वर्धित कर ये लोग अपना उच्च स्थान प्राप्त किये होते हैं। उनके लिये यह स्वाभाविक है कि वे उन नवागन्तुकों को बहुत अधिक प्रोत्साहन न दें जो उसी सैद्धान्तिक चबूतरे पर कुठाराघात करना आरम्भ करते हैं, जिस पर वे खड़े होते हैं।

परन्तु यह एक तरह से अच्छा ही है कि नये विचार जीवित रहने के लिए संघर्ष करें। केवल इसी तरह ही कुछ स्पष्ट धारणाएँ अस्पष्ट और गलत धारणाओं से पृथक् की जा सकती हैं। यदि कोई विचार ठीक है तो वह जीवित रहता है। एक उपयोगी विचार और उसके विरोधियों का परस्पर वही सम्बन्ध है जो उगती हुई घास और चट्टान का। अन्त में विचार और घास की विजय होती है।

बैक्टीरियोफेजों के आविष्कार के बाद लगभग दो दशकों तक उनके विषय में किया गया कार्य इस बात पर केन्द्रित रहा कि रोग-निवारण में, साधन के रूप में उनकी सम्भव भूमिका क्या हो सकती है। अध्ययन की योजना सरल थी––ऐसे भक्षकों की तलाश की जाती थी और उन्हें प्राप्त किया जाता था जो परीक्षण नली वाले रोगोत्पादक बैक्टीरिया पर आक्रमण कर उन्हें नष्ट कर देते थे। परन्तु इलाज के लिये जब प्राणियों में पाये जाने वाले उन्हीं रोगोत्पादक बैक्टीरिया को नष्ट करने का प्रयत्न किया जाता था तब सफलता नहीं मिलती थी। इसका अपवाद केवल वे बीमारियाँ, जैसे कालरा, थीं जो केवल पाचन नली में सीमित होती हैं।

हम पाते हैं कि व्यावहारिक दृष्टि से किये गये अधिकांश अनुसंधानों के इतिहास की पुनरावृत्ति इस अवधि में किये गये बैक्टीरिया-भक्षक अनुसंधान के इतिहास में हुई। एक व्यावहारिक लक्ष्य निर्धारित करना आसान है परन्तु वहाँ तक जाने वाला पथ टेढ़ा-मेढ़ा होता है और प्रायः उसके बारे में पूर्व जानकारी बिल्कुल नहीं होती। वास्तव में संक्रामक रोग पर बैक्टीरियाभक्षक द्वारा विजय नहीं प्राप्त की गई जैसी कि योजना थी बल्कि अन्य जीवाणुओं तथा रसायनज्ञ के फ्लास्क से प्राप्त रासायनिक द्रव्यों द्वारा यह कार्य सिद्ध हुआ।

इस शताब्दी के चौथे दशक तक प्राणियों और पौधों के वाइरसों पर किये गये कार्य का मुख्य उद्देश्य था उनसे उत्पन्न होने वाले रोगों की रोकथाम और चिकित्सा के लिये प्रभावकारी उपायों की जानकारी प्राप्त करना।

परन्तु १९३५ में एक व्यक्ति ने केवल एक आविष्कार द्वारा इस सारे क्षेत्र में होने वाले अनुसंधान की दिशा ही बदल दी। डॉ० वेन्डेल एम० स्टैनले एक युवक कार्बनिक रसायनज्ञ थे जो राक्फेलर संस्थान में कार्य कर रहे थे। संस्थान के निदेशक डॉ० साइमन फ्लेक्सनर उन विरल वैज्ञानिक प्रशासकों में से थे जिन्हें अपनी योग्यता पर विश्वास होता है और इसलिए जो अपने को समान या अधिक योग्यता वाले व्यक्तियों से घेरे रहते हैं और जिनका उद्देश्य प्रेरणा देना होता है, रोब गालिब करना नहीं। डॉ० फ्लेक्सनर के सुझाव से डॉ० स्टैनले ने वाइरसों का अध्ययन आरम्भ किया। कुछ ही वर्ष पूर्व सम्नर ने सफलतापूर्वक यूरीज़ एन्ज़ाइम को क्रिस्टलित किया था और वह एक प्रोटीन सिद्ध हुआ था।

स्टैनले ने चित्तीदार बीमारी से ग्रस्त तम्बाकू की पत्तियों को निचोड़ा और रस को उन्हीं क्रियाओं से होकर गुजारा जिनके द्वारा सम्नर ने क्रिस्टलीय एन्ज़ाइम प्राप्त किया था। उनका यह निर्णय बुद्धिमत्तापूर्ण था और उस से चकितकारी फल प्राप्त हुआ। स्टैनले को एक क्रिस्टलीय पदार्थ मिला जो उन्हें एक प्रोटीन प्रतीत हुआ और जो अन्य प्रोटीनों जैसे अंडे की सफेदी से भिन्न नहीं था। सब दृष्टियों से वह एक विशुद्ध, समांग, अकोशीय पदार्थ था जो एक बोतल में, बिना हानि पहुँचाये, और ऐसा लगता था अनिश्चित काल तक पड़ा रह सकता था। परन्तु उसका जलीय घोल, जिसकी तनुता एक और सौ अरब के अनुपात में भी हो, यदि तम्बाकू की स्वस्थ पत्ती पर छिड़का जाता था तो चित्तीदार बीमारी हो जाती थी। यह गजब की क्षमता वाला पदार्थ क्या था? स्टैनले ने सोचा कि वह कोई सरल प्रोटीन है। परन्तु उसका ऐसा सोचना गलत था क्योंकि यह सिद्ध किया गया कि उसके क्रिस्टलों में फास्फोरस की प्रचुर मात्रा थी और यह न्यूक्लिइक अम्ल की उपथिति का निश्चित लक्षण है। आगे चलकर पता चला कि वह पदार्थ एक न्यूक्लियोप्रोटीन है।

अंग्रेज जीव-रसायनशास्त्री सर चार्ल्स हैरिंगटन के शब्दों में, इस आविष्कार से "विज्ञान को एक बौद्धिक धक्का लगा।" क्योंकि यह एक अकोशीय एवं अजैव पदार्थ था और मूलतः न्यूक्लियोप्रोटीन का केवल एक बड़ा अणु था। फिर भी वह स्वस्थ पौधे की कोशिका को इसके लिए बाध्य करने में समर्थ था कि वह अपने सामान्य संघटकों का निर्माण न कर इस बाहरी द्रव्य का सम्वर्धन करे।

इस आविष्कार ने जैव विचार और अनुसंधान की धारा पलट दी। शायद इसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह हुआ कि वाइरसों की समस्या भौतिकी-वेत्ताओं, रसायनज्ञों और जीव-शास्त्रियों के बौद्धिक क्षितिज के भीतर आ गयी। परन्तु इन लोगों ने इस चुनौती को इसलिये नहीं स्वीकार किया कि वाइरस अनुसंधान का चिकित्सा के क्षेत्र में उपयोग हो सकता है बल्कि इसलिये कि एक नये क्षितिज के मधुर और विवशकारी प्रलोभन ने उन्हें आकर्षित किया। सच्चे सीमावासियों की तरह ये लोग साहसी, कल्पनाशील एवं प्रथा-विरोधी थे। उनके प्रयत्नों का फल सचमुच प्रभावित करने वाला है। वाइरसों के बारे में नयी जानकारी भिन्न प्रकार की वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं से प्रपात की तरह प्रवाहित हो रही है।

शायद सब से अधिक जानकारी हमें बैक्टीरिया-भक्षकों से प्राप्त हुई है। १९४० में एलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी की सहायता से अंततोगत्वा हम इस पकड़ में न आने वाले बैक्टीरिया के शत्रुओं को देख सके। तीस हज़ार गुना आकार बढ़ जाने पर बैक्टीरिया-भक्षक, बैक्टीरिया के समक्ष उतना ही छोटा दिखाई

तम्बाकू के चित्तीदार वाइरस पर किये गये कार्य से, हर्शे के निष्कर्ष की शीघ्र पुष्टि हो गयी। इस वाइरस के प्रोटीन और न्यूक्लिइक अम्ल को रासायनिक विधि से पृथक् किया गया और प्रत्येक संघटक की, स्वस्थ तम्बाकू-पत्तियों को संक्रमित करने की क्षमता का परीक्षण किया गया। केवल न्यूक्लिइक अम्ल ही संक्रामक एजेंट था।

जिस कोशिका पर वाइरस का न्यूक्लिइक अम्ल आक्रमण करता है उसका वह किस प्रकार से विध्वंस करता है? इस प्रश्न का असंदिग्ध उत्तर, पैन्सिल्वेनिया विश्वविद्यालय के जीव-रसायन-शास्त्री डॉ० सेमुअर एस० कोहेन द्वारा प्राप्त किया गया। डॉ० कोहेन को कुछ भक्षकों के न्यूक्लिइक अम्ल में एक असाधारण संघटक मिला जो जैव जगत् में कहीं नहीं पाया जाता। यहा नहीं कि इस प्रकार का अणु कहीं नहीं मिलता बल्कि इसे बनाने वाला एन्ज़ाइम भी बैक्टीरिया में नहीं होता। परन्तु भक्षक द्वारा आक्रमण किये जाने के बाद शीघ्र ही पराजित बैक्टीरियायी कोशिका में उपर्युक्त कार्य करने में सक्षम एक एन्जाइम एकत्र होने लगता है। इस तरह भक्षक केवल बैक्टीरिया का 'भक्षण' ही नहीं करते, बल्कि यह आदेश भी दे सकते हैं कि कौन-सा भोजन पकाया जाय।

जिस आसानी से एक वाइरस अपने से बहुत बड़ी आक्रांत कोशिका पर हावी होता है उस पर हम आश्चर्य किये बिना नहीं रह सकते। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि इस कार्य के लिए वाइरस असाधारण रूप में लैस होता है। यह उसी पदार्थ से निर्मित होता है जिससे जीन निर्मित होते हैं अतः वाइरस का कोशिका में प्रवेश जीन के प्रवेश के समान है। कोशिका के शासन-केन्द्र पर कब्जा करके, वाइरस उसे अपना गुलाम बनाता है। वाइरस जीनों की तरह केवल एन्ज़ाइम ही नहीं बनाते बल्कि वे उन्हीं की तरह उत्परिवर्तित भी होते हैं। यद्यपि सभी वाइरसों में उत्परिवर्तन की क्षमता प्रतीत होती है, परन्तु आश्चर्य की बात है कि यह क्षमता सूक्ष्मतम तथा दिखाई न देने वाले भक्षकों में सबसे अधिक होती है। इस विरोधाभास का कारण है भक्षकों द्वारा बैक्टीरिया विनाश का लाक्षणिक पैटर्न। यदि अर्ध ठोस आहारीय द्रव्य द्वारा, बहुत से बैक्टीरिया अंकुरित किये जायें तो बैक्टीरिया की एक घनी घास उग जायेगी। परन्तु यदि बैक्टीरिया के साथ कुछ भक्षक भी हों तो उस घनी अपारदर्शी बैक्टीरिया घास में छोटे, साफ छिद्र दिखाई देंगे। निम्नलिखित कारण से छिद्र गोल होते हैं। एक भक्षक एक बैक्टीरिया को संक्रमित करता है और सौ नये भक्षक उत्पन्न हो जाते हैं। सम्भावना नियमों के अनुसार वे त्रिज्यीय पैटर्न में प्रकट होने के लिए बाध्य हैं। ये सौ भक्षक पास वाले सौ

बैक्टीरिया को संक्रमित करते हैं और सिद्धांततः दस हजार भक्षक हैं। अपनी बारी में ये दस हज़ार बैक्टीरिया को संक्रमित करते तरह बैक्टीरिया संहारक बीज त्रिज्यीय रूप में फैलते हैं और इतने बैक्टीरिया मर जाते हैं कि एक साफ गोल छिद्र बन जाता है। छिद्रों की आकृतियाँ या आकार एक जैसे नहीं होते। कुछ छोटे ह बड़े। कुछ के किनारे सुनिर्धारित होते हैं मानो उन्हें एक ड्रिल द्वे किया गया है परन्तु कुछ के किनारे आरी की तरह कटे होते हैं। होते हैं परन्तु कुछ के ऊपर धुन्ध होता है। यदि भिन्न छिद्रों से हटाकर नयी बैक्टीरियायी प्लेटों पर रखा जाय तो प्रत्येक प्रकार बिना अपवाद के फिर से बन जाता है। भक्षकों को हटाने के लि प्लैटिनम के तार से छिद्रों को छेदने की आवश्यकता है। अतः छिद्र णिक आकृति भक्षक का आनुवंशिक लक्षण है। यह किसी जीव क आकृति या संरचना का नहीं बल्कि उसके द्वारा किये गये संहार के आनुवंशिकता का एक असाधारण उदाहरण है। भक्षक का यह गुण अ है—यह उन्हीं एजंटो द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है, जो जीवित म्यूटेशन पैदा करते हैं।

क्या वाइरस जीवित पदार्थ हैं? इस प्रश्न का उत्तर एक तार्कि जिसे कोई भी खेल सकता है। यदि प्राचीन परम्परा के अनुसार परिभाषा आकृति विज्ञान के आधार पर न की जाय बल्कि गत्यात्मक पर इस तरह की जाय कि वह एक ऐसा तंत्र है जो ऊर्जा द्वारा अव्य से व्यवस्था उत्पन्न कर सकता है तथा जो परिवर्तनशील है तो जीवित पदार्थ हैं।

दो सहस्र से अधिक वर्ष पूर्व अरस्तू ने लिखा था, "प्रकृति अज को जीव जगत् में इतने क्रमिक ढंग से परिवर्तित करती है कि दोनों क करने वाली सीमा-रेखाएँ अस्पष्ट एवं संदेहास्पद होती हैं।" मछली अ प्राणियों के बीच फेफड़ा वाली मछली है। असली स्तनपायियों और पायियों के बीच आस्ट्रेलिया का बतख जैसी चोंच वाला प्लैटिपस है दूध स्तनग्रंथियों से नहीं निकलता, बल्कि स्वेद ग्रंथियों से निकल क को भिगोता है। जीवन के वर्ण पट में वानर हमें अन्य प्राणियों से अल हैं। हम वाइरसों को वह सेतु मान सकते हैं जो अजीव क्रिस्टलों और जैव रूपों के बीच की खाई को पाटता है। सच तो यह है कि वा बाद हम फौरन कोशीय जीवाणुओं को नहीं पाते हैं। इन दोनों के ब खायी को रिकेट्सिया पाटते हैं जिनमें जीवाणुओं की कुछ संरचना

थोड़े से एन्ज़ाइम होते हैं परन्तु जो वाइरसों की तरह परजीवी हैं और किसी जीवित कोशिका के सम्पर्क में ही जीवित रह सकते हैं ।

हमारा यह विश्वास नहीं है कि आधुनिक वाइरस उन प्राचीन रूपों के अवशेष हैं जिनसे अन्य, अधिक जटिल जीवित वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं। वाइरस तब तक प्रजनन नहीं कर सकते जब तक वे जीवित कोशिकाओं के निकट सम्पर्क में न हों। कोशिकाविहीन माध्यम में वाइरस का सम्वर्धन करने में हम असफल रहे हैं। वे केवल अपने जीवित शिकार की ऊर्जा और द्रव्य पर जीवित रह सकते हैं और वे अत्यधिक विशेषता-युक्त परजीवी हैं—वे केवल विशेष अतिथियों की कोशिकाओं के भीतर ही प्रजनन कर सकते हैं। यदि वाइरस आदिकालीन पूर्वजों के अवशेष हैं तो वे उन युगों में कैसे जीवित रहे जिनके बाद ही उनके वर्तमान अतिथि, जिनकी विकास वंशावली अपेक्षाकृत आधुनिक है, प्रकट हुए। अतः अधिक सम्भव यह है कि वाइरस पूर्वकालीन अधिक जटिल रूपों के अधःपतित अवशेष हैं। वास्तव में वे उस एक ही पूर्वज के अधःपतित रूप हो सकते हैं जिससे उनका और उनके अतिथियों, दोनों का विकास हुआ है। एक दूसरा सुझाव यह है कि वाइरस भारक जीन हैं जो किसी जीवित कोशिका की जनन संरचना से छिटक कर अलग हो जाते हैं और अपना संहारक परजीवी अस्तित्व बनाये रखते हैं। वाइरसों के बारे में यह 'नग्न जीन' सिद्धान्त, जो वाइरसों की उत्पत्ति और उनकी विशेषता दोनों का स्पष्टीकरण करने में समर्थ है, एक ही साथ १९२० वें दशक के आरम्भ में तीन असाधारण योग्यता वाले व्यक्तियों द्वारा प्रस्तावित किया गया। ये थे—एच० जे० मुलर जिन्होंने बाद में मालूम किया कि एक्स किरणें म्यूटेशन उत्पन्न कर सकती हैं, बी० एम० डुग्गर जो अपने जीवन के आठवें दशक में ऐन्टीबायोटिक्स के एक प्रमुख विशेषज्ञ हो गये और आरियोमाइसीन का आविष्कार किया और यूजीन वोल्मान जो अपने इस कार्य को पूर्ण नहीं कर सके जिसमें उन्होंने अपना जीवन खपा दिया था।

वोल्मान ने अपनी परिकल्पना के परीक्षण के लिये सर्वाधिक कार्य किया। भक्षकों के आविष्कार के बाद शीघ्र ही उनकी प्रकृति के विषय में दो विरोधी विचार विकसित हुए। डी' हेरेल का मत था कि भक्षक एक आक्रमणकारी परजीवी है, वह अपने शिकार में प्रवेश करता है, वहाँ प्रचुर मात्रा में सम्वर्धित होता है और उसकी संतानें, अतिथि के टूटते हुये शरीर से प्रकट होती हैं। दूसरा मत, जिसके प्रमुख समर्थक पास्चर संस्थान के जे० बार्डेट थे, यह था कि भक्षक, बिना किसी बाहरी संक्रमण के बैक्टीरिया के भीतर उत्पन्न होते हैं। ऐसा हुआ कि दोनों विरोधी विचारों के समर्थन में प्रचुर विरोधी प्रमाण प्रस्तुत किये गये। कुछ ऐसे बैक्टीरिया का पता लगाया गया

जिनमें सदा भक्षक होते थे। ऐसा प्रतीत होता था कि ये बैक्टीरिया अपने विनाश के बीज स्वयं वहन करते हैं क्योंकि बिना बाहरी संक्रमण के, अपने भीतर वाले भक्षकों द्वारा ही वे समय-समय पर नष्ट होते रहते थे। ऐसे बैक्टीरिया को लाइसोजेनिक या स्वतःविनाशी कहा गया।

वोल्मान ने यह सुझाव दिया कि इन बैक्टीरिया में कुछ जीन क्रोधान्ध होकर अपने को पृथक् कर लेते हैं और भक्षकों के रूप में अपना स्वतंत्र अस्तित्व आरम्भ करते हैं। उसने यह भी सोचा कि बैक्टीरियायी द्रव में ये जीन एक सेल से दूसरे सेल में जाते रहते हैं। यह एक दूरदर्शी विचार था जिस की पुष्टि, बीस वर्ष बाद परिवर्तन सिद्धान्त के आविष्कार द्वारा हुई।

यद्यपि बैक्टीरिया भक्षकों पर वोलमान का कार्य पूर्ण नहीं हो सका फिर भी इस क्षेत्र पर उनकी गहरी छाप पड़ी। केवल पुस्तकों से विज्ञान का केवल मामूली ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान के सीमावर्ती क्षेत्रों की मात्रा के लिये एक अनुभवी, आत्म-विश्वास वाले तथा ज्ञान-दान के लिये इच्छुक गुरु की आवश्यकता होती है जो मार्ग दिखा सके। नये शिक्षार्थी के लिये केवल नयी निपुणताओं की ही आवश्यकता नहीं होती। उसको इसके लिये भी सहायता चाहिये कि वह ताजे और बासी विचारों में भेद कर सके और जान सके कि कौन तथ्य महत्त्वपूर्ण हैं और कौन मामूली। वोलमान ने डी' हेरेल तथा भक्षकों के अध्ययन में लीन वर्तमान वैज्ञानिकों के बीच एक कड़ी का काम किया। इन वैज्ञानिकों में से बहुत से उनकी प्रयोगशाला में प्रशिक्षित थे। उनके कार्य और उनके जीवन का १९४३ में जघन्य रूप में अन्त कर दिया गया, जब नाजियों ने उन्हें और उनकी पत्नी तथा सहयोगिनी एलिजाबेथ वोल्मान को पकड़ कर किसी वध-स्थल पर भेज दिया। मानव-जीवन का आपेक्षिक मूल्यांकन करना उन पामरों के स्तर पर उतरना होगा जिनके लिये हत्या जीवन की एक प्रणाली है। परन्तु भक्षक अनुसंधान के विकास की दृष्टि से इस क्षेत्र में इससे बढ़ कर गम्भीर क्षति की कल्पना करना कठिन है।

सौभाग्य से लाइसोजेनिक बैक्टीरिया विषयक कार्य को युद्ध के बाद पास्चर संस्थान के एक प्रमुख सूक्ष्म जीवशास्त्री तथा वोल्मान के मित्र डॉ० ऐन्ड्रे लोग्राफ ने हाथ में लिया। सूक्ष्मजीव-विज्ञान के क्षेत्र में विविध प्रकार के सफल अनुसंधान करने के बाद डॉ० लोग्राफ इस क्षेत्र में आये। वे बैक्टीरिया की आहारीय आवश्यकताओं के आरम्भिक अध्ययनकर्ताओं में से एक थे और अपनी जानकारी के आधार पर उन्होंने एक जीन, एक एन्ज... सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। डॉ० लोग्राफ ने सर्वप्रथम इस समस्... हल करने का निश्चय किया कि क्या लाइसोजेनिक जीव के भीतर

और निहित परजीवी में वास्तविक सम्बन्ध होता है या संक्रामक एजेंट ऐसे बैक्टीरिया में केवल संयोगवश सदा प्रस्तुत रहते हैं।

तकनीकी ढंग से यह सम्भव है कि सूक्ष्मदर्शी यंत्र की सहायता से एक अकेले बैक्टीरिया को पकड़ा जाय और सम्वर्धन के लिये उसे एक पोषक माध्यम में रखा जाय। अतः एक एकाकी कोशिका से आरम्भ कर किसी सूक्ष्म-जीव की विशुद्ध समरूप बस्ती बसाई जा सकती है। लोग्राफ ने लाइसोजेनिक बैक्टीरिया की एक अकेली कोशिका को चुना। उन्होंने एक ताज़े माध्यम में रखा और उसके विभाजन तथा सम्वर्धन की प्रतीक्षा की। उसने दो संतानों में से केवल को चुना और उसे फिर से विभाजित किया। उन्होंने बहुत निपुणता के साथ इस क्रिया की उन्नीस बार पुनरावृत्ति की। दूसरे शब्दों में उनके पास एक ऐसा जीव था जिसकी उन्नीस क्रमिक पीढ़ियों के विषय में उन्हें निश्चित ज्ञान था। साथ ही, यदि उसका निवेश द्रव्य प्रत्येक नये सम्वर्धन द्रव के आयतन का केवल दसवां भाग रहा हो तो गणना द्वारा यह सिद्ध किया सकता है कि यदि मूल सम्वर्धन द्रव में सम्बधिन्त वाइरस रहे भी हों तो वे एक हज़ार अरब गुना कम्म तनु हो जायेंगे और इस तरह मूल वाइरस एक तरह से नहीं के बराबर होंगे। मूल वाइरस प्रजनन भी नहीं कर सकते थे। वाइरस केवल जीवित कोशिका के भीतर ही प्रजनन कर सकते हैं और वे जब प्रजनन करते हैं तब अपनी अतिथि कोशिका को नष्ट कर देते हैं। परन्तु इस प्रयोग में पूर्वज कोशिका उन्नीस पीढ़ियों तक जीवित रही। फिर भी ऐसी नस्ल वाली कोशिका से उत्पन्न बैक्टीरिया लाइसोजेनिक थे। यदि उन्हें आक्सीजन न मिले या उन्हें सम्वर्धन द्रव में बहुत देर तक रखा जाय तो वे घुल जायेंगे और वाइरस कणों को मुक्त करेंगे। इसके अतिरिक्त लाग्रोफ ने मालूम किया कि लाइसोजेनिक जीवों में इच्छानुसार वह वाइरस उत्पन्न कर सकता है। उसने सिद्ध किया कि यदि लाइसोजेनिक जीवों पर अल्ट्रा-वायलेट किरणें पड़ें तो बहुत थोड़े काल में प्रत्येक कोशिका में बीसियों वाइरस कण उत्पन्न हो जायेंगे।

यह एक असाधारण आविष्कार था और उसके बाद एक ऐसा ही और आविष्कार शीघ्र हुआ—जिन रासायनिक द्रव्यों के बारे में यह मालूम था कि वे प्राणियों में म्यूटेशन या कैंसर उत्पन्न करते हैं वे लाइसोजेनिक बैक्टीरिया में भी वाइरस उत्पन्न करते हैं। एक वस्तु जो प्राणियों में कैंसर उत्पन्न करती है वह बैक्टीरिया में छिपे वाइरस को विषैला बना सकती है। यह जानकारी गुप्त अर्थ से युक्त है। जब अगले कुछ दशकों में हम उस जानकारी का केवल दसवाँ भाग भी मालूम कर लेंगे जो लाइसोजेनिक बैक्टीरिया से प्राप्त हो सकती है तब हम

में से बहुतों का यह विश्वास है कि हम वाइरस से होने वाली बीमारियों को और सम्भवतः कैन्सर को भी वश में कर लेंगे।

निश्चय ही सूक्ष्म जीवों को कैंसर नहीं होता। इसलिये लाइसोजेनिक बैक्टीरिया से प्राप्त ज्ञान का उपयोग कैंसर के लिये करने की आशा किसी आशावादी अर्धवैज्ञानिक का भोला स्वप्न प्रतीत हो सकता है। परन्तु जीव रसायन शास्त्री तथा अन्य वैज्ञानिक जो जीवन की प्रक्रियाओं का अध्ययन आण्विक स्तर पर कर सकते हैं, तुलनात्मक जीवरसायन की शिक्षाओं के बारे में सदा सतर्क रहते हैं। प्रत्येक प्रकार की जीवित कोशिका में चाहे वह केंचुए की हो चाहे ह्वेल की, मूल आण्विक प्रक्रियाएँ एक सी होती हैं। प्राणियों या पौधों का कैंसर एक तेजी के साथ होने वाली स्वतंत्र अभिवृद्धि है जो एक बार चालू हो जाने पर अतिथि की उन नियंत्रक प्रक्रियाओं को धता बता देती है जो सामान्यतः वृद्धि को जीव की आकृति और आकार की सीमाओं के भीतर रखती है। एक बार जब अहानिकर लाइसोजेनिक वाइरस विकिरण द्वारा या कैंसरोत्पादक द्रव्यों द्वारा सक्रिय हो जाता है तब वह वाइरस उसी निर्ममता और स्वतंत्रता के साथ वृद्धि करता है जिससे कैंसर। दो भिन्न बीमारियों को उत्तेजित करने वाले एजेंटों की समानता से तथा दोनों के एक ही तरह से बढ़ने से यह संकेत मिलता है कि इन दोनों की आधारभूत प्रक्रिया एक ही है। अतः बैक्टीरिया में लाइसोजेनिक क्रिया से प्राप्त ज्ञान के प्रकाश में हम कैंसर अनुसंधान के एक दीर्घकालीन उपेक्षित कोने को देख सके।

यह परिकल्पना कि कैंसर, वाइरसों के कारण होता है उतनी पुरानी है जितना पुराना वाइरसों के अस्तित्व का हमारा ज्ञान है। ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम इस परिकल्पना का सुझाव, इस शताब्दी के आरम्भ में पास्चर संस्थान में काम करने वाले एक वैज्ञानिक बोरेल ने किया था। उसने तंग आकर यह परिकल्पना की थी। वास्तव में वह कैंसर उत्पन्न करने वाले सूक्ष्म जीवों की तलाश कर रहा था परन्तु वह किसी जीवाणु को पृथक् नहीं कर सका और इसलिये उसने झल्लाकर अपनी असफलता का दोष पकड़ में न आने वाले किसी वाइरस पर मढ़ दिया। पास्चर संस्थान में काम करने वाले किसी भी व्यक्ति के लिये यह स्वाभाविक बात थी। केवल बीस वर्ष पहले स्वयं पास्चर रेबीज पैदा करने वाले जीवाणु को पृथक् करने में असफल रहे, क्योंकि उस बीमारी को पैदा करने वाला एजेंट एक वाइरस है। इस तरह बोरेल की परिकल्पना एक अहंकारपूर्ण अनुमान के सिवा और कुछ नहीं थी। वे नवीन और आकर्षक विचार, जो प्रायोगिक परीक्षणों से परे होते हैं, किसी भी अनियंत्रित और कल्पनाशील मस्तिष्क से आसानी से प्रकट हो सकते हैं। ऐसे नवीन विचार जिनका नियंत्रित प्रयोगों द्वारा आलोचनात्मक ढंग से परीक्षण किया जा सकता है और भी कम होते

है। विरलतम मौलिक विचार वे होते हैं जो बला के चुस्त शैतान के हिमायतियों अर्थात् उसी क्षेत्र में प्रतियोगिता करने वाले सहयोगियों द्वारा बिछाये गये प्रायोगिक फंदों से निकल जाते हैं। बोरेल के अतिरिक्त अन्य शोध-कर्ताओं के मन में भी यह बात आयी थी कि ट्यूमर का निर्माण वाइरसों के कारण हो सकता है परन्तु इनमें से एक के पास इतनी निपुणता और धैर्य था और वह इतना भाग्यशाली था कि वह अपनी परिकल्पना को दृढ़ बना सका।

डॉ० पेटन एफ० राउस १९०८ में मिशिगन विश्वविद्यालय में रोग विज्ञान के युवक शिक्षक थे। उनके कार्य की ओर डॉ० साइमन फ्लेक्सनर (राक्फेलर संस्थान वाले) का ध्यान गया जो स्वयं रोग-विज्ञानवेत्ता थे और प्रतिभा के कुशल पारखी थे। डॉ० फ्लेक्स्नर ने इस युवक को बुला कर अपने संस्थान वाले दल में शामिल कर लिया और उनके इस निर्णय का औचित्य शीघ्र ही प्रमाणित हो गया क्योंकि राउस ने १९११ में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाशित किया जिसने अंततोगत्वा ट्यूमर से सम्बन्धित सम्पूर्ण शोध कार्य को एक नयी दिशा दी। डा० राउस ने अध्ययन के लिये उस ट्यूमर को चुना जो प्लाइमाउथ रॉक चूजों की छाती-पेशियों में हो जाता है। अपनी इस परिकल्पना के परीक्षण के लिये कि ट्यूमर के कारण वाइरस हैं उसने एक ट्यूमर को काटा, रेत के साथ उसे पीसकर महीन किया, और उसे एक ऐसी बैक्टीरिया-छलनी से होकर गुजारा जिसके बारे में उसने परीक्षण करके मालूम कर रखा था कि वह बैक्टीरिया को अपने में से होकर नहीं जाने देती। उसने इतनी सावधानी इसलिए बरती क्योंकि वह इस बारे में बिल्कुल निश्चित होना चाहता था कि छनित में समूची कोशिकाएँ नहीं हैं क्योंकि समूची ट्यूमर कोशिकाओं का रोपण कर एक प्राणी से दूसरे प्राणी में ट्यूमर बहुत आसानी से स्थानान्तरित किया जा सकता है। जब डॉ० राउस को विश्वास हो गया कि छनित में समूची कोशिकाएँ नहीं हैं तब उसने दस स्वस्थ चूज़ों को उसका इंजेक्शन दिया। उनमें से चार को उसी जगह ट्यूमर हो गया जहाँ इंजेक्सन दिया गया था। डॉ० राउस के इस सुझाव का कि वाइरस से ट्यूमर पैदा होता है, उस समय के रोग-विशारदों ने वैसा ही स्वागत किया जैसा किसी बदबूदार जानवर का स्वागत टी-पार्टी में होता है

उस समय कैंसर के विरुद्ध किये गये प्रयत्नों की प्रगति में जो निराशाजनक स्थिति थी उसका सार डॉ० जेम्स इविंग के, जो उस समय के प्रमुख रोग-विशारद थे, इस कथन में मिलता है—"कैंसर को तभी समझा और नियंत्रित किया जा सकेगा जब जीवन को समझा और नियंत्रित किया जा सकेगा।"

डॉ० राउस के आविष्कार और परिकल्पना के विरुद्ध अविश्वास ने कई रूप धारण किये। इम्पीरियल कैंसर रिसर्च फंड के निदेशक को संदेह था कि

डॉ० राउस वास्तव में ट्यूमर पर काम कर रहे थे। उनका तर्क कुछ इस प्रकार का था—"वह ट्यूमर नहीं हो सकता क्योंकि उसको उत्पन्न करने वाले कारक का पता चल गया है।"

डॉ० फ्लेक्सनर ने, जिन्होंने राउस का वफादारी के साथ समर्थन किया, यह सुझाव दिया कि फेस्टश्रिफ्ट[1] (जयंती) वाल्यूम के लिये, जो पाल ऍलिच की साठवीं वर्षगाँठ के अवसर पर प्रकाशित होने वाला था, एक लेख लिखा जाय। राउस ने लेख तैयार किया परन्तु सम्पादकों द्वारा उसे अस्वीकृत किये जाने और प्रकाशन के अयोग्य ठहराये जाने का दुःख और अपमान उन्हें सहन करना पड़ा।

अपने क्षेत्र में असफलता और अस्वीकृति के विरुद्ध डॉ० राउस संघर्ष करते रहे। उस समय जो तरीके उपलब्ध थे वे वाइरस को पृथक् करने के लिये पर्याप्त नहीं थे। उन्होंने अन्य ट्यूमरों के संक्रामकत्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया। उन्होंने दो असफल वर्ष एक ऐसे ट्यूमर पर काम करने में लगा दिये जो चूहों की दूध ग्रंथियों में होता है। जब पीछे मुड़ कर देखते हैं तब उनकी असफलता का कारण स्पष्ट हो जाता है। एक विशेष प्रकार की शुद्ध नस्ल के चूहों पर प्रयोग कर अंत में यह सिद्ध कर दिया गया कि चूहों की दुग्ध-ग्रंथियों में होने वाला ट्यूमर वाइरस के कारण होता है।

सौभाग्यवश अपने सहयोगियों की शत्रुता के बावजूद डॉ० राउस दीर्घ-जीवी हुए। १९३८ में उन्होंने राउस ट्यूमर उत्पन्न करने वाले वाइरस का पृथक्करण देखा। यह ऐसा वाइरस है कि इसके एक ग्राम का सौ अरबवां भाग ($१०^{-१२}$ग्राम) ट्यूमर उत्पन्न कर सकता है। (यह मात्रा लगभग २०००० वाइरस कणों की मात्राओं के योग के बराबर है।)

डॉ० राउस यह देखने के लिये भी जीवित रहे हैं कि पौधों और प्राणियों में बीसियों अन्य ट्यूमर वाइरसों के कारण होते हैं और बैक्टीरियायी वाइरसों के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान जैसे-जैसे चिकित्सकों की विचारधारा का भी अंग बनता जा रहा है वैसे-वैसे डॉ० राउस उस परिकल्पना का भी उत्थान हाल के वर्षों से देख रहे हैं कि कैंसर भी वाइरसों के कारण होता है।

अपनी परिकल्पना को स्वीकृत कराने के लिये डॉ० राउस को जो

---

१. फेस्ट श्रफ्ट या जयंती पुस्तक का प्रकाशन एक परम्परा है जिसे जर्मन विद्वानों ने किसी प्रमुख सहयोगी का, उसके जीवन के किसी काल परक अवसर पर, सम्मान करने के लिए चालू किया था। सामान्यतः एक पुस्तक या पैम्फलेट पूर्ववर्ती छात्रों, साथियों और सहयोगियों के ऐसे लेखों के संकलन द्वारा तैय्यार की जाती है जिनमें लेखक यह सिद्ध करके का प्रयत्न करते हैं कि सम्मानित व्यक्ति से वे कितने बेहतर हैं।

संघर्ष करने पड़े उनके प्रति उनका अपने जीवन के नवें दशक में दार्शनिक अर्थात् निर्विकार दृष्टिकोण हो गया है। वे अनुभव करते हैं कि ऐसा होना अनिवार्य था क्योंकि किसी नये विचार को स्वीकृति प्राप्त करने में कम-से-कम दस वर्ष लग जाते हैं।

आजकल कैंसर के कारण विषयक दो परिकल्पनायें हैं जिन पर गम्भीरता के साथ विचार किया जा रहा है। इन में से एक के अनुसार जिसे सोमैटिक म्यूटेशन सिद्धान्त कहते हैं, सोमैटिक या शरीर वाली कोशिकाओं में म्यूटेशन होने से कैंसर होता है। दूसरी परिकल्पना वाइरसों को दोषी ठहराती है।

किसी घटना की अंतिम प्रक्रिया विषयक केवल एक काम चलाऊ परिकल्पना में कोई भी प्रायोगिक जैव-वैज्ञानिक अपना पूरा विश्वास नहीं रखता। परन्तु यद्यपि हम यह नहीं सिद्ध कर सके हैं कि आदमी को होने वाले कैंसर का कारण वाइरस है फिर भी इस दिशा में चलना ठीक है। अभी तक हमें जो असफलता हाथ लगी है वह इस परिकल्पना के विरुद्ध कोई जरूरी नहीं कि एक सही तर्क है। कैंसर पैदा करने वाले ज्ञात वाइरसों में अद्भुत विशिष्टता होती है। चूहों का स्तनीय कार्सिनोमा वाइरस केवल एक विशेष प्रकार के चूहों के स्तन टिशुओं में संक्रमण पैदा कर सकता है। चीता मेंढक वाला कैंसर वाइरस केवल चीता मेंढक के गुर्दे में प्रजनन करेगा और कैंसर पैदा करेगा। यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि आदमी एक चलती-फिरती अंडे सेने की मशीन है और वह अनेक प्रकार के वाइरसों को सेता रहता है। उनमें से बीसियों पहचाने जा चुके हैं। इन वाइरसों में से कोई भी कुछ दशाओं में उस अत्यधिक वृद्धि का कारण हो सकता है जिसे चिकित्सा की भाषा में कैंसर कहते हैं। ज्ञात स्वतंत्र वाइरसों के अतिरिक्त आदमियों में लाइसोजेनिक वाइरसों जैसे वाइरसों के होने की भी संम्भावना है। ऐसे कम-से-कम एक वाइरस की उपस्थिति अच्छी तरह से सिद्ध हो चुकी है। हर्पेस सिम्पलेक्स का वाइरस आदमी की नाक या होंठ पर उसके जीवन भर पड़ा रह सकता है और अधिकांश समय वह 'शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व' को निभाता हुआ प्रतीत होता है। परन्तु कुछ तनावपूर्ण दशाओं में जैसे धूप में बहुत देर तक रहने से, किन्हीं यांत्रिक खरोचों से या कुछ ऐलर्जी वाले आहारों के खाने से सारा क्षेत्र उत्तेजित हो जाता है और 'कोल्ड सोर' का दुःखदायी दृश्य उपस्थित करता है। अन्य कौन से गुह्य वाइरस हमारे शरीर में निवास करते हैं, यह हमें नहीं मालूम है। यह बात महत्त्वपूर्ण हो सकती है कि अल्ट्रा-वायलेट किरणें, जो लाइसोजेनिक सूक्ष्मजीवों में वाइरस का निर्माण करती हैं, यदि चूहों और आदमियों पर अधिक मात्रा में पड़ें तो त्वचा-कैंसर को जन्म देती हैं।

जिस प्रक्रिया से वाइरस द्वारा कैंसर उत्पन्न होता है उसको समझने के लिये, बैक्टीरियायी वाइरस विषयक अपने अनुभव से हम लाभ उठा सकते हैं। हमें मालूम है कि आक्रमणकारी बैक्टीरिया भक्षक में यह क्षमता होती है कि वह अधिकृत कोशिका के उपापचयन सामंजस्य में गड़बड़ी पैदा करदे। वास्तव में वह नये एन्ज़ाइमों को बनाने की क्षमता उत्पन्न कर सकता है जब कि पहले कोई एन्ज़ाइम नहीं थे। प्राणी-कोशिका की उपापचयन प्रक्रिया को उन आदिम राहों में ले जाकर जो सामान्य नियामक नियंत्रणों की पर्वाह नहीं करतीं, वाइरस कैंसर पैदा कर सकता है। या वाइरस केवल उन फीडबैक नियंत्रक प्रक्रियाओं में हस्तक्षेप कर सकता है जो सामान्यतः उन विभिन्न टिशू संघटकों की आपेक्षिक मात्राओं का नियमन करती हैं, जो कोशिका की प्रक्रिया द्वारा निर्मित होते हैं।

कैंसर के कारण विषयक परिकल्पना का भविष्य चाहे जो भी हो, इसका महत्त्व यदि किसी अन्य कारण से नहीं तो कम-से-कम इसकी गतिशीलता के कारण तो है ही। सोमैटिक म्यूटेशन परिकल्पना के विषय में प्रायोगिक विधि का अधिक उपयोग नहीं किया जा सकता। ऐसी घटना का अध्ययन करना असम्भव है जो बेतरतीब हो और जिसके बारे में भविष्यवाणी न की जा सके। इसके विपरीत वाइरस परिकल्पना प्रायोगिक प्रयत्नों का आवाहन करती है। ये प्रयत्न शायद हमें सीधे लक्ष्य तक न पहुँचायें अर्थात् इनसे शायद हम कैंसर की जानकारी और उस पर नियंत्रण न प्राप्त कर सकें परन्तु इन से प्राप्त नयी जानकारी एक नया पैटर्न और एक नया पथ मिल सकता है।

हंगेरियन जीव-रसायनशास्त्री डॉ० अलबर्ट जेन्ट-गियार्गायी ने प्रथम विश्व-युद्ध के अपने अनुभव पर आधारित एक कहानी द्वारा एक मार्गदर्शी सिद्धान्त की आवश्यकता को स्पष्ट किया है, वह सिद्धान्त चाहे कितना भी कमजोर हो। वे हंगेरियन सेना के साथ इटैलियन मोर्चे पर थे। अपने आगे के पर्वतीय क्षेत्र की टोह लेने के लिये एक छोटी टुकड़ी भेजी गयी। टुकड़ी वापस नहीं आयी और समझ लिया गया कि वह फँस गयी। परन्तु थोड़े दिनों बाद थकी-हारी टुकड़ी कैम्प में वापस आई। जब सैनिकों से पूछ-ताछ की गयी तो उन्होंने बताया कि वे पहाड़ों में खो गये और परन्तु उन्होंने एक नक्शे की मदद लेने का निश्चय किया जो उन्हें सच-मुच ही वापस ले आया। पूछ-ताछ करने वाले अधिकारी को यह कहानी असम्भव प्रतीत हुई, क्योंकि उसको संदेह था कि किसानों के लड़के जो उस टुकड़ी में थे, नक्शा पढ़ सकते हैं। सैनिकों ने उस नक्शे को प्रस्तुत किया जिसका अनुसरण उन्होंने किया था। परन्तु वह नक्शा एक बिल्कुल भिन्न क्षेत्र का था। वाइरस सिद्धान्त सम्प्रति सर्वोत्तम नक्शा है क्योंकि यह हमें प्रायोगिक पथों पर ले जाता है।

परन्तु बुद्धिमत्ता कहाँ मिलेगी और
समझ का स्थल कहाँ है ?
—जॉब २८-१२

४. मस्तिष्क

सोचने वाली कोशिकाएँ

कभी-कभी किसी प्रतिभाशाली व्यक्ति का प्रभाव अनुसंधान के किसी क्षेत्र में अहितकर होता है। मस्तिष्क की भौतिक और रासायनिक क्रिया सम्बन्धी ज्ञान के विकास में फ्रायड, अनजाने ही एक ऐसी ही बाधा सिद्ध हुए। उनकी तीव्र अन्तर्दृष्टि ने मानव-मस्तिष्क पर छाये हुए कोहरे में कुछ दूर तक प्रवेश किया। मानसिक रोगों के इलाज तथा साहित्य और कला पर भी—भोजन-कालीन वार्तालाप का उल्लेख क्या करें—उनका प्रभाव बहुत अधिक है। मानव-मन की गुत्थियों को सुलझाने में यद्यपि उन्होंने अपने अनुयायियों का बहुत साहस के साथ नेतृत्व किया फिर भी एक दूसरे क्षेत्र में उनका प्रभाव बहुत ही अनिष्टकर सिद्ध हुआ—उनके प्रभाव में हम भूल गये कि मस्तिष्क एक अंग है।

यह एक ऐसा अंग है जो रासायनिक यंत्रों से भरा पड़ा है। यह भोजन को जलाता है, यह ऊर्जा का उपयोग करता है, यह अपने टिशुओं का निर्माण और विघटन करता है। इन सब के ऊपर या यों कहिये कि इन सबकी सहायता से यह अपना सर्वोच्च काम करता है अर्थात् यह सोचता है। अतः मस्तिष्क बला का जटिल अंग है। फिर भी यह उसी अर्थ में हमारा अंग है जिस अर्थ में गुर्दे या जिगर हमारे अंग हैं। हमारी शिकायत यह है कि फ्रायड के जादूई प्रभाव के कारण मस्तिष्क के मनोविश्लेषण पर बहुत अधिक ध्यान दिया गया है और उसके रासायनिक तथा भौतिक विश्लेषण पर कम।

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि फ्रायड का प्रभाव अहितकर रहा है। संसार में काफी ऐसे क्षुद्र लोग हैं जो महान् व्यक्तियों की निन्दा करके अपने को प्रसिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। प्रशंसा की अपेक्षा लोगों का ध्यान निंदा

करने वाले की ओर अधिक जाता है। लेखक की यह इच्छा नहीं है कि वह उन पंचम श्रेणी वाले लोगों के दल में शामिल हो जाये जो एक प्रथम श्रेणी के व्यक्ति और उसके कार्य की निंदा करके चतुर्थ श्रेणी की प्रसिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं। इसके विपरीत उसका विश्वास है कि अपने वर्तमान स्थूल साधनों की सहायता से हम चाहे जितना भी भौतिक या रासायनिक अनुसंधान करते, हम इन कुछ दशकों में उतनी प्रगति नहीं कर पाते जितनी प्रगति हमने फ्रायड का अनुसरण करके की है। होना यह चाहिए था कि दोनों तरह के प्रयत्न साथ-साथ किये गए होते—तात्कालिक लाभ के लिए मनोविश्लेषण और मानसिक प्रक्रिया के मंद परन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण अध्ययन के लिए भौतिक अनुसंधान।

न्याय का तकाज़ा है कि इस बात का उल्लेख किया जाय कि फ्रायड से बहुत पहले मस्तिष्क के भौतिक अन्वेषण में बहुत बड़ी बाधाएँ थीं। सत्रहवीं शताब्दी तक बहुतों का खयाल था कि आत्मा और मन गैस जैसी वस्तुएँ हैं। परन्तु जैसे-जैसे गैसों का रहस्योद्घाटन होने लगा, वैसे-वैसे लोग रहस्यवाद के और अधिक अभेद्य पर्दों के पीछे शरण लेने लगे। दकार्ते ने मन और द्रव्य में भेद किया। उसने हमें ऊँची चहारदीवारियों से घिरे दो पृथक् बाड़ों में रख दिया। उसने मस्तिष्क के लिये एक असाधारण उपापचयन की कल्पना की। उसके मत से रक्त मस्तिष्क में "एक बहुत सूक्ष्म वायु या पवन उत्पन्न करता है जिसे प्राणी आत्मा कहते हैं।" मन और द्रव्य का द्वैतवाद शताब्दियों तक हमारे विचारों पर हावी रहा। सच तो यह है कि वह अब भी हावी है।

एक बहुत बड़े चिकित्सक जॉन लिविस विलिचम थुडिचम, जो बाद में रसायन के अध्ययन की ओर उन्मुख हो गये, के कार्य के फलस्वरूप यह स्वीकार किया जाने लगा कि मस्तिष्क कार्टेज़ियन पवन-चक्की न होकर स्वतन्त्र उपापचयन वाला एक अंग हो सकता है। यद्यपि उनका जन्म और शिक्षा जर्मनी में हुई थी परन्तु उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश भाग इंगलैण्ड में बिताया। वे प्रसिद्ध पुस्तक, 'मस्तिष्क की रासायनिक रचना,' के रचयिता थे परन्तु उन्होंने 'पाकविद्या की स्पिरिट' और 'शराबों पर निबन्ध' नामक पुस्तकें भी लिखीं। वे एक बहुत बड़े अनुसंधानकर्त्ता थे परन्तु साथ ही सार्वजनिक गायन-मंडलियों के भी सदस्य थे।

थुडिचम, जो जीवन के अन्तिम वर्ष १६०१ तक अपनी दिलचस्पी के बहुत-से क्षेत्रों में, अन्धा-धुंध काम करते रहे, मस्तिष्करसायन के संस्थापक थे। मस्तिष्क के स्थूल संघटकों के निर्धारण में उन्होंने जो काम किया उससे अच्छा काम आज तक नहीं हो सका है। मस्तिष्क के बहुत-से संघटकों की रासायनिक संरचना को मालूम करने में उन्होंने जिस निपुणता का परिचय दिया वह चकित करने वाली है।

परन्तु थुडिचम के बाद मस्तिष्क के रासायनिक अध्ययन में लोगों की दिलचस्पी कम हो गयी। अपनी ओर ध्यान आकर्षित करने के मामले में मस्तिष्क की उपापचयन विषयक साधारण क्रियाएँ उसकी असाधारण क्रियाओं का मुकाबला नहीं कर सकीं। और इसीलिये हम यह अजीब बात पाते हैं कि सबसे महत्त्वपूर्ण अंग की ओर लोगों का सबसे कम ध्यान केन्द्रित हुआ। फिर भी उधार लिये हुए ज्ञान की सहायता से हमें मस्तिष्क के बारे में काफी जानकारी हुई। प्रकृति एक मितव्ययी आविष्कर्ता है। यदि एक अंग में कोई प्रक्रिया अच्छी तरह से काम करती है तो यह निश्चित है कि वह दूसरे नए अंग में भी स्थापित की जाएगी। इसके पहले कि तंत्रिका तंत्र की विशिष्ट कोशिकाएँ प्रकट हुईं, अन्य कोशिकाएँ हज़ारों वर्ष तक शर्कराओं को विघटित करती रहीं और उनकी सूर्य द्वारा उत्पन्न ऊर्जा को चूसती रहीं। अन्त में जब ये विशिष्ट कोशिकाएँ अस्तित्व में आयीं, तब वे भी शर्कराओं को विघटित करने के लिये उसी भट्टी से लैस थीं जो अन्य कोशिकाओं के लिये ठीक साबित हो चुकी थीं। अतः मस्तिष्क में शर्करा के उपापचयन की जानकारी मस्तिष्क कोशिकाओं के अध्ययन से नहीं प्राप्त की गई अपितु यीस्ट कोशिकाओं तथा कबूतर की जिगर-कोशिकाओं के अध्ययन से हासिल की गयी। इस तरह थोड़ी-सी जानकारी यहाँ से लेकर, थोड़ी-सी वहाँ से लेकर हम एक उपापचयन वाली मशीन के रूप में मस्तिष्क का चित्र धीरे-धीरे पूरा कर रहे हैं।

हां दकार्त के उत्तराधिकारी यह तर्क दे सकते हैं—माना कि रसायनज्ञ धीरे-धीरे मस्तिष्क की यांत्रिक क्रियाओं को मालूम कर सकते हैं, परन्तु क्या यह सम्भव है कि वे स्थूल रासायनिक क्रियाओं और अत्यधिक सूक्ष्म बातों—जैसे विचार और व्यक्तित्व में परस्पर सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं? ऐसे सम्बन्ध स्थापित किये गये हैं। एक बार फिर, ये क्षुद्र झांकियाँ उन वैज्ञानिकों के कार्यों का परिणाम नहीं थीं जो मुख्यतः मस्तिष्क में दिलचस्पी रखते थे बल्कि उन सांयोगिक एवं अप्रत्याशित लघु सूचनाओं का फल थीं जो जैव विज्ञान के शोधकार्य की गौण उपज हैं। उदाहरणार्थ विटामिनों के या यों कहिये कि विटामिनों की कमी के अध्ययन से, उस महत्त्वपूर्ण अंग, मस्तिष्क पर जीवरासायनिक कमियों से पड़ने वाले प्रभाव के विषय में अप्रत्याशित रहस्योद्घाटन हुए हैं।

विटामिन की कमी से होने वाली एक गम्भीर बीमारी, पेलाग्रा में भौतिक लक्षणों के साथ-साथ सदा मानसिक अव्यवस्थाएँ भी प्रकट होती हैं। रोगी आशंकित, भयभीत, चिड़चिड़े और आसानी से क्रुद्ध किये जा सकने वाले होते हैं। यदि रोगी को निकॉटिनिक अम्ल दिया जाय, जिसके अभाव से यह बीमारी होती है, तो ये सारे लक्षण ग़ायब हो जाते हैं।

केवल निकॉटिनिक अम्ल ही ऐसा पदार्थ नहीं है जिसके भोजन में न होने से केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र में गड़बड़ी पैदा हो जाती है। बेरी-बेरी में, जो विटामिन बी के अभाव से होती है, गम्भीर मानसिक व्याधियों के लक्षण भी प्रकट होते हैं। किसी के आहार में कृत्रिम रूप से बायोटिन की कमी पैदा कर उसे आसानी से मनोविश्लेषक के इलाज योग्य बनाया जा सकता है।

इन विटामिनों और मस्तिष्क की गतिविधि में क्या सम्बन्ध है ? मस्तिष्क की ऊर्जा का स्रोत शर्करा का उपापचयन है। उस जटिल उपापचयन की भिन्न अवस्थाओं में ये तीनों विटामिन कोएन्ज़ाइमों का काम करते हैं। विटामिनों के अभाव का अर्थ है कोएन्ज़ाइमों का अभाव और उनके अभाव का अर्थ है अपंग एन्ज़ाइम तंत्र। ऐसा प्रतीत होता है कि विटामिनों की कमी से मस्तिष्क के बिजली घर में एन्ज़ाइम तंत्र विकृत हो जाते हैं जिससे अस्थायी रूप में व्यक्तित्व विकृत हो जाता है।

मस्तिष्क पर रासायनिक द्रव्यों के भारी प्रभाव का एक दूसरे प्रकार का प्रमाण एक स्विस रसायन शास्त्री ने संयोगवश १९४३ में मालूम किया, जब वे अर्गट से प्राप्त पदार्थों का सामान्य परीक्षण कर रहे थे। रसायन शास्त्री ने संयोगवश लाइसर्जिक अम्ल की अल्प मात्रा सूँघ ली। उनका सर चकरा गया और वे स्वप्न देखने जैसी अवस्था में घर के लिये चल दिये। उनका मन निर्मूल भयों से आच्छन्न था। "मेरी आँखें बंद थीं और अत्यंत लचीले तथा गहरे रंगों वाले अजीबो-गरीब चित्र, मेरी ओर बढ़ते हुए प्रतीत हो रहे थे।" इस द्रव्य के एक ग्रेन का दस लाखवां भाग क्षणभर के लिये निर्मूल भय अवस्था उत्पन्न कर सकता है जो मनोविक्षिप्ति जैसी अवस्था होती है।

मस्तिष्क पर चाहे भावात्मक दबाव पड़े चाहे रासायनिक, दोनों हालतों में उनके कारण होने वाले लक्षण ऊपर से एक जैसे दिखाई देते हैं। यह निष्कर्ष निकालना कि दोनों अव्यवस्थाओं का केन्द्र आवश्यक रूप से एक ही प्रक्रिया में है, उतावली का परिचायक होगा। (रेडियो में गड़बड़ी दोनों हालतों में होती है, चाहे बिजली अनियत हो चाहे उसका एक ट्रांजिस्टर घिस गया हो) फिर भी यह अटकलबाजी करना दिलचस्प है कि मस्तिष्क की वे कमजोर कड़ियाँ जो दो भिन्न प्रकार के दबावों के कारण टूट जाती हैं एक ही तो हैं। यह सच है कि एक मामले में कड़ियाँ बहुत धीरे-धीरे जुड़ती हैं और दूसरे में अद्भुत तेजी के साथ जुड़ जाती हैं परन्तु यह तथ्य इस परिकल्पना के विरुद्ध प्रमाण के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता कि दोनों अव्यवस्थाएँ एक ही दोषपूर्ण प्रक्रिया के कारण होती हैं। भावात्मक दुष्प्रभाव उतनी आसानी से नहीं दूर किये जा सकते हैं, जितनी आसानी से जीवरसायन का दुष्प्रभाव।

हमारी जानकारी में केवल एक ऐसी वस्तु है जो सब जीवित वस्तुओं में पाई जाती है और वह है एन्ज़ाइम।

हो सकता है 'असामान्य व्यक्तित्व पैटर्न' जिसके कारण एक मनुष्य उन भावात्मक दबावों से ध्वस्त हो जाता है जिनकी दूसरा दृढ़तर व्यक्ति बिल्कुल परवाह नहीं करता, और कुछ नहीं केवल असामान्य एन्ज़ाइम पैटर्न हों।

इस बात का प्रबल प्रमाण है कि अंतराबन्धियों में निश्चित रूप से जीवरसायनी अव्यवस्था होती है। ऐसे रोगियों में तनाव की स्थिति में कुछ एन्ज़ाइम तथा हार्मोनीय तंत्र, साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा बहुत अधिक शिथिल होते हैं। इसके अलावा अन्तरा-बन्धियों के रक्त में एक तांबा युक्त एन्ज़ाइम पाया जाता है जिसके बारे में यह दावा किया गया है कि उसकी मात्रा रोगी की मानसिक गड़बड़ी के अनुपात में होती है। वास्तव में यह भी दावा किया गया है कि उन रासायनिक द्रव्यों द्वारा, जो क्षणिक मनो-विक्षिप्ति की अवस्थाएँ उत्पन्न कर सकते हैं, सामान्य व्यक्तियों में भी उन एन्ज़ाइमों की मात्रा में परिवर्त्तन किया जा सकता है। वह समय आ सकता है, जब हम रोगी के भावात्मक इतिहास के बजाय उसके अनियत एन्ज़ाइमों का अध्ययन करेंगे। परन्तु आजकल की प्रगति की रफ्तार को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि एन्ज़ाइम विश्लेषक अभी सैकड़ों वर्ष तक अपने काम में लगे रहेंगे।

क्या हम ऐसे किसी साधन की कल्पना कर सकते हैं जिससे हम रासायनिक दृष्टि से इस बात का अध्ययन कर सकें कि मस्तिष्क पेशियों को गतिशील होने के लिये किस तरह आदेश देता है या वह अद्‌भुत अंग कैसे सोचता है? अभी हाल ही में हम उस रासायनिक प्रक्रिया के बारे में मामूली-सी जानकारी प्राप्त कर सकें हैं जो तंत्रिका-आवेगों को पेशियों तक ले जाती है।

मस्तिष्क से पेशी तक तार पहुँचाने के लिये जो तारों का जाल बिछा है उसके बारे में हमें बहुत पहले से मालूम था। तंत्रिका कोशिकाओं में लम्बे पतले रेशे होते हैं जिनमें से कुछ कई फुट तक लम्बे होते हैं। ये रेशे रीढ़-रज्जु को भिन्न पेशियों से जोड़ते हैं। इस जाल द्वारा संदेश भेजे जाते हैं जिनकी रफ्तार लगभग १२० फुट प्रति सेकण्ड होती है और इन संदेशों को प्राप्त कर पेशियाँ अपना काम करती हैं। परन्तु पेशियों और तंत्रिका-रेशों की नोकों के बीच कुछ रिक्त स्थान होता है। इन दो प्रकार की कोशिकाओं के बीच बिल्कुल सम्पर्क नहीं होता। तो फिर इस रिक्त स्थान के पार संदेश कैसे भेजा जाता है? वह कौन संदेशवाहक है जो आज्ञाकारी पेशी के हाथ में तार पकड़ाता है?

कुछ रासायनिक द्रव्य, जैसे ऐड्रिनलिन, जब पेशियों के सम्पर्क में आते हैं तो उनसे ऐसे कार्य करवाते हैं मानो उन्हें तंत्रिकाओं द्वारा संदेश मिले हैं। अतः ऐसा सोचा गया था कि शायद तंत्रिका आवेग को पेशी तक पहुँचाने के लिये, कुछ ऐसे रासायनिक द्रव्य, तंत्रिका से निकल कर रिक्त स्थान के पार पेशी तक जाते हैं। आस्ट्रिया के औषध प्रभाव वेत्ता डॉ० ऑटो लोवी[1] द्वारा किये गये एक सरल प्रयोग ने उपर्युक्त अनुमान को शरीर-विज्ञान के एक तथ्य में बदल दिया।

वह प्रयोग केवल इसीलिये उल्लेखनीय नहीं है कि वह बहुत सरल था बल्कि उन परिस्थितियों के कारण भी जिनमें उसका विचार पैदा हुआ। डॉ० लोवी ने उसे स्वप्न में देखा। उनका कहना है कि उन्होंने एक बहुत स्पष्ट स्वप्न देखा जिसमें उन्होंने उस निर्णायक प्रयोग को किया। परन्तु दूसरे दिन वे उस उपयोगी स्वप्न का व्यौरा भूल गये। सौभाग्य से उन्होंने उसे फिर स्वप्न में देखा। इस बार जगने पर लोवी ने उसका व्यौरा लिख लिया। तब उन्होंने उस स्वप्न में देखे गये प्रयोग को किया, जिसने अंततोगत्वा एक स्वप्न को पूरा किया——लोवी को इसके लिये औषध विषयक नोबल पुरस्कार मिला।

एक अंग तक, जो हृदय की तरह अनैच्छिक रूप से कार्य करता है दो प्रकार की तंत्रिकाएँ जाती हैं। एक उसे उत्तेजित करती है और दूसरी उसे निरोधित या मंद करती है। अतः हमारा मस्तिष्क ऐसे अंगों का नियंत्रण दो लगामों से करता है।

लोवी ने एक मेंढक के हृदय को अनावृत कर उसमें जाने वाली दोनों तंत्रिकाओं को काट दिया। तब उसने एक दूसरे मेंढक के हृदय को, जिसकी तंत्रिकाएँ नहीं काटी गई थीं बिजली द्वारा उत्तेजित किया। ऐसी उत्तेजना का सामान्य परिणाम होता है हृदय की धड़कन-आवृत्ति में कमी होना। तब उसने इस उत्तेजित हृदय में से कुछ रक्त निकाल कर तंत्रिका कटे हुए हृदय में रखा। परन्तु कोई खास बात नहीं हुई।

उसने इसी प्रयोग को दोहराया परन्तु उसने तंत्रिका वाले हृदय में रक्त की जगह एक लवण घोल रखा। इस बार जब उसने तंत्रिका वाले हृदय से लवण घोल को बिना तंत्रिका वाले हृदय में पहुँचाया तब एक विशेष बात हुई। वह हृदय जिसे कटी हुई तंत्रिकाओं से कोई संदेश नहीं मिल सकता था, अब ऐसा व्यवहार करने लगा मानो उसे तंत्रिका से संदेश मिला है। उसकी धड़कन कम हो गयी। दूसरे शब्दों में उत्तेजित हृदय कोई ऐसी वस्तु उत्पन्न करता है जो एक हृदय से दूसरे हृदय में स्थानान्तरित की जा सकती है और फिर भी इतना

---

१. औषध प्रभाव विज्ञान आज भी प्रायोगिक जीव विज्ञान की एक शाखा है। औषध प्रभाववेत्ता जीवित वस्तुओं पर औषधों के प्रभाव का अध्ययन करते हैं।

सक्षम रह सकता है कि दूसरे हृदय को उत्तेजित करे। यह इस बात का प्रथम प्रमाण था कि कोई ऐसा संदेश-वाहक है जो तंत्रिका तार तंत्र के सिरों और पेशीय कोशिकाओं के बीच रिक्त स्थान के आर-पार जा सकता है।

बाद में ब्रिटिश शरीर-विज्ञान-वेत्ता सर हेनरी डेल ने इस संदेशवाहक की पहचान कर ली। पता चला कि यह वही अपेक्षाकृत सरल रासायनिक द्रव्य, ऐसिटिल्कोलीन है जिसे वर्षों पूर्व प्रयोगशाला में बनाया गया था। एक बार फिर कार्बनिक रसायनशास्त्री द्वारा बनाया गया एक पदार्थ कोशिका में भी पाया गया। और एक बार फिर एक प्रश्न के उत्तर ने वैसे ही और बहुत से प्रश्नों को उठाया—यदि किसी रासायनिक द्रव्य के निकलने से संदेश का भेजा जाना सम्भव होता है तो थोड़ी-थोड़ी देर बाद उनकी पुनरावृत्ति कैसे की जा सकती है ? ऐसिटिल्कोलीन की लगातार क्रिया द्वारा प्रथम संदेश बराबर बना क्यों नहीं रहता ?

इसका उत्तर यह है कि रक्त में एक एन्ज़ाइम होता है जो ऐसिटिल्कोलीन को निष्क्रिय खंडों में विभक्त कर देता है। इस तरह, एक बार पेशी कोशिकाओं तक संदेश आ जाने के बाद यह एन्ज़ाइम संदेशवाहक को छिन्न-भिन्न कर देता है और नये संदेश के लिये स्थान बना देता है। इसी कारण लोवी का प्रसिद्ध प्रयोग तब तक नहीं सफल हुआ जब तक हृदय से रक्त हटाकर लवण-घोल नहीं रखा गया। जितने समय में रक्त एक हृदय से दूसरे हृदय में पहुँचाया गया उतने में एन्ज़ाइम ने संदेशवाहक का काम तमाम कर दिया। (प्रसंगवश, जर्मन तंत्रिका गैस डी० एफ० पी० इसी एन्ज़ाइम का निरोध कर अपना प्रभाव दिखाती है। डी० एफ० पी० द्वारा एन्ज़ाइम के निष्क्रिय बना दिये जाने पर नये संदेश पेशियों तक नहीं भेजे जा सकते और इस तरह लकवा मार देता है।)

ऐसिटिल्कोलीन पर किया गया कार्य इस बात का साक्षी है कि हम रसायन शास्त्री और शरीर-विज्ञान के उपकरणों द्वारा तंत्रिका तंत्र की प्रक्रिया के एक तुच्छ अंश को समझ सकते हैं। परन्तु क्या हम मस्तिष्क की महत्त्वपूर्ण क्रियाओं का भी ऐसा ही अध्ययन सम्प्रति कर सकते हैं ? क्या हम रासायनिक भाषा में जॉब के इस पुरातन प्रश्न का उत्तर कभी दे सकेंगे, "बुद्धिमत्ता कहाँ मिलेगी और समझ कहाँ रहती है ?"

जीव-रसायनशास्त्रियों को विश्वास है कि कभी-न-कभी समझ का आण्विक स्थल मिल जायगा और उसकी रासायनिक प्रक्रिया मालूम हो जायगी। दुर्भाग्यवश इस विश्वास का स्रोत इस क्षेत्र में हुई वर्तमान प्रगति नहीं है बल्कि इतिहास का मनन है। जीवन की यांत्रिक व्याख्या प्राप्त करने के लिये कटिबद्ध वैज्ञानिकों के समक्ष पहले भी कई बार ये वर्जनात्मक संकेत आये हैं—"बस यहाँ तक, इसके आगे नहीं।" संकेत मिट गये हैं। जीव और अजीव जगत् के बीच की

दीवारें ढह गई हैं। एक-एक करके जीवन-यंत्र का प्रत्येक भाग भौतिक रासायनिक यंत्र सिद्ध हुआ।

चूँकि आज हम जानते हैं कि मस्तिष्क के लिये ऊर्जा का स्रोत रासायनिक प्रक्रिया है और वह अपना संदेश भौतिक रासायनिक साधनों द्वारा भेजता है अतः यह विश्वास-सा हो गया है कि किसी दिन हम मालूम कर लेंगे कि स्मृति, विचार और इच्छा भी आण्विक प्रक्रिया के परिणाम हैं।

भोजन का उपापचयन, ऊर्जा की उत्पत्ति और गति में उसका परिवर्तन, यहाँ तक कि तांत्रिक आवेगों का संचारण, इन सब को हम आज रासायनिक भाषा में व्यक्त कर सकते हैं। परन्तु जल, कुछ चर्बियों और प्रोटीनों से बना हुआ मांस का एक लोथड़ा स्मरण कैसे करता है? वह कैसे सोचता है? वह एक गीत कैसे लिखता है? इसके बारे में हम कुछ नहीं जानते।

स्मृति क्या है? क्या वह किसी आण्विक संगठन की संरचना में खुदी होती है? वर्ष के बाद वर्ष, वह कैसे कायम रहती है? हम जानते हैं कि अन्य टिशुओं की तरह मस्तिष्क भी परिवर्तन की अवस्था में रहता है। वह निरन्तर विघटित और निर्मित होता रहता है। इस सतत विनाश और पुनर्निर्माण के बीच कोई स्मृति कभी-कभी जीवन-पर्यन्त कैसे बनी रहती है? क्या ऐण्टीबाडियों की तरह उन अणुओं का सतत पुनर्निर्माण होता रहता है जिनमें स्मृति निवास करती है? इस बारे में भी हम कुछ नहीं जानते। जीवन-प्रक्रिया के विषय में हमारे अज्ञान की यह गहराई है।

यह ठीक है कि मन की प्रक्रिया के विषय में सच्चे ज्ञान का अभाव है परन्तु उसके विषय में अटकलबाजी का अभाव नहीं है। एक तथ्य की अनुपस्थिति से एक रिक्तता उत्पन्न होती है जिसमें आसानी से बीसियों अटकलबाजियाँ समा सकती हैं। सामयिक फैशन यह है कि मस्तिष्क को एक एलेक्ट्रॉनिक गणक मशीन के सदृश समझा जाय। ऐसा समझा जाता है कि हमारा मस्तिष्क केवल एक विशाल यूनिवक मशीन है जिसमें पन्द्रह-सौ अरब वाल्व या कोशिकाएँ हैं। इस तरह का विलोम मानव-केन्द्रित या मशीन-केन्द्रित दृष्टिकोण त्रुटिपूर्ण है और इसके लिए कोई पुष्ट प्रमाण-सम्मत औचित्य नहीं है। यह ठीक है कि प्रत्येक जीवित वस्तु की प्रत्येक ज्ञात प्रक्रिया, तापगतिकी और यांत्रिकी के नियमों के अनुसार व्यवहार करती है। इस दृष्टि से प्रत्येक जीवित वस्तु एक मशीन है। परन्तु यह मशीन, मनुष्य द्वारा निर्मित किसी मशीन को माडल मान कर नहीं बनाई गई थी।

यह मान लेना कि सौ अरब वर्षों के विकासपरक प्रयोगों के बाद ऐसी वस्तु बनी है, जो मनुष्य द्वारा निर्मित किसी वस्तु की नकल मात्र है, जीवन-यंत्र और प्रकृति की आविष्कार-क्षमता की शान के खिलाफ है। सम्प्रति हमें कुछ नहीं मालूम

है कि मस्तिष्क की आण्विक प्रक्रिया क्या है और अज्ञान की इस खाई को कृत्रिम उपमाओं से पाटना कोई अर्थ नहीं रखता। हम क्या नहीं जानते, यह जानना ज्ञान का प्रथम चरण है।

विचार और व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया को आच्छन्न किये हुए अज्ञान के इस अभेद्य अन्धकार को दृष्टि में रखते हुए इस बात से आश्चर्य होता है कि कुछ वैज्ञानिक अपने जीवन के अन्तिम दिनों में कितनी जल्दी यह घोषणा कर देते हैं कि अपनी परीक्षण नलिकाओं की पेंदी में उन्होंने अन्तिम सत्य का दर्शन कर लिया है। ज्ञान या यों कहिये कि अज्ञान की वर्तमान अवस्था में, अपने वैज्ञानिक अनुभव के आधार पर वैज्ञानिकों का अपने को मसीहा समझना उनके दंभ का द्योतक है। यह ठीक है कि विज्ञान के उपकरणों और तरीकों से महत्त्वपूर्ण फल प्राप्त हुए हैं, परन्तु जिस क्षेत्र में उन उपकरणों का इस्तेमाल हो सकता है वह बहुत सीमित है।

विज्ञान द्वारा अन्वेषित या अन्वेषणीय क्षेत्रों से बाहर आने पर वैज्ञानिकों को अधिकार का चोगा उतार देना चाहिए।

जीव-रसायन-शास्त्री भिन्न अंगों को बहुत पतले टुकड़ों में काट सकता है और जीवित कोशिकाओं में एन्ज़ाइम प्रक्रियाओं को मालूम कर सकता है। वह जिगर से पच्चीस मिलिमीटर पतला टुकड़ा काट सकता है और मालूम कर सकता है कि वह कोलेस्टराल बनाता है। कसाई जिगर के पच्चीस मिलिमीटर मोटे टुकड़े काटता है और उसकी कुछ आहारीय क्षमताओं को भी जानता है। वैज्ञानिक के टुकड़े सौ गुना पतले होते हैं। जिगर की क्रियाओं के बारे में उसका ज्ञान शायद सौ-गुना अधिक विवरणपूर्ण होता है। परन्तु क्या इसी कारण वह अन्तरिक्ष की अनन्तता, काल की अन्तहीनता और द्रव्य-ऊर्जा की उत्पत्ति के विषय में मनन करने के लिए सौ-गुना अधिक योग्य है ?

इस बात से आश्चर्य होता है कि अपने निर्धारित क्षेत्रों को छोड़ कर रहस्य-वाद के विस्तृत प्रांगण में छलाँग लगाते ही कुछ वैज्ञानिक पुष्ट तर्क और सावधान कथन की अपने जीवन-भर की आदतों को कितनी आसानी से तिलांजलि दे देते हैं। उदाहरणार्थ प्रसिद्ध भौतिक-रसायन-शास्त्री स्वर्गीय पियरे लेकाम्टे डू नुयी ने 'द रोड टू रीजिन' में लिखा—

"उन महान् रहस्यवादियों, संतों, पैगम्बरों में जिनका प्रभाव शताब्दियों तक अनुभव किया गया है, एक ऐसी बात होती है जो केवल बुद्धि की पकड़ में नहीं आती। हम भौतिक दैवी घटनाओं को स्वीकार नहीं करते क्योंकि वे हमारे वास्तविक ज्ञान की सीमा के बाहर पड़ती हैं। फिर भी हम जोन ऑफ आर्क की वास्तविकता को स्वीकार करते हैं जो एक वास्तविक और चकित करने वाली घटना है।"

यह आंशिक सत्य-दोष का उदाहरण है। यह सच है कि जोन ऑफ आर्क एक वास्तविक और चकितकारी दैवी घटना है। परन्तु वैसी ही दैवी घटना उसका तुच्छतम सेवक या वह घोड़ा था जिस पर वह सवारी करती थी। एक विशेष जीव दैवी घटना नहीं है। कोई भी जीव दैवी घटना है !

कवि, जैसी कि उससे आशा हो सकती है, सब जीवित वस्तुओं के रहस्य और गरिमा को अधिक अनुभव करता है। वर्डस्वर्थ ने लिखा है—

तुच्छतम पुष्प जो खिलता है मुझे दे सकता है।
वे विचार जो आँसुओं की पहुँच से परे प्रायः बहुत गहराई में पड़े रहते हैं।

कुछ ऐसे वैज्ञानिक हैं जो अपने जीवन के अन्त में उन बातों को गिनाते हैं जो अभी भी अज्ञात हैं और जिन्हें शायद जाना नहीं जा सकता। हमारे ज्ञान की अनेक खाइयों के आधार पर वे हमें विश्वास का सहारा लेने के लिए प्रेरित करते हैं। प्राकृतिक घटनाओं के विषय में अज्ञान, विश्वास के भवन के लिए एक कमज़ोर स्तम्भ है। अधिक-से-अधिक वह एक क्षणिक सहारा है। कल का रहस्य आज की एक साधारण बात है। आज जो अज्ञात है, कल मालूम हो जायगा। तीन-सौ-साल पहले अग्नि की प्रक्रिया बुद्धि की पकड़ से उतनी ही दूर थी जितनी मानव मस्तिष्क की प्रक्रियाएँ आज भी हैं। तो क्या उन दिनों लोगों को, अग्नि के रहस्यात्मक आश्चर्य के आधार पर, विश्वास का सहारा लेने के लिए प्रेरित करना ठीक होता ?

सर्वोच्च जीव-रसायनशास्त्री पास्चर ने, जिसने भौतिक क्षेत्रों में इतना अधिक आरम्भिक काम किया, प्रथम वैज्ञानिक-रहस्यवादी की भूमिका भी अदा की। फ्रेंच अकैडमी के समक्ष दिये गये अपने स्वीकृति भाषण में उन्होंने कहा था—"परे क्या है ? एक अदम्य शक्ति से प्रेरित मानव मस्तिष्क इस प्रश्न का पूछना कभी बंद नहीं करेगा—परे क्या है ? ऐसा उत्तर देने से कोई लाभ नहीं—परे सीमाहीन अन्तरिक्ष, सीमाहीन काल या सीमाहीन गरिमा है। इन शब्दों को कोई नहीं समझता। जो अनन्त की घोषणा करता है—और कौन नहीं करता— वह उस घोषणा में उस से कहीं अधिक अलौकिकता का समावेश करता है जितनी सारे धर्मों की सारी दैवी घटनाओं में पाई जाती है। क्योंकि अनन्त की धारणा में यह द्वैधता निहित है कि वह हमारा ध्यान आकर्षित तो करता है परन्तु समझ में नहीं आता। जब यह धारणा हमारे मन में घर कर जाती है तब हम केवल प्रार्थना कर सकते हैं। मुझे संसार में सब जगह अनन्त की अभिव्यक्ति दिखाई देती है। इसके माध्यम से अलौकिकता प्रत्येक हृदयतल में निवास करती है। ईश्वर की धारणा अनन्त की धारणा का एक रूप है। जब तक अनन्त का रहस्य मानव मस्तिष्क पर छाया रहेगा तब तक

अनन्त की पूजा के लिये मन्दिर बनते रहेंगे, और, ब्रह्म, अल्लाह, जेहोवा या जीज़स के रूप में ईश्वर की पूजा होती रहेगी और उन मन्दिरों के फर्श पर मनुष्य झुकते, लेटे और अनन्त के ध्यान में खोये हुए दिखाई देते रहेंगे।[1]

मुझे ऐसा लगता है कि आजकल के रहस्यवादी वैज्ञानिक विषय-वस्तु या शैली की दृष्टि से भी इससे अधिक दूर नहीं गये हैं।

---

१. रेन वैलरी रेदात, द लाइफ आफ पाश्चर (न्यूयार्क, डबलडे, १९१६) पृष्ठ ३४२।

विज्ञान की परी-कहानियाँ
और काल का लम्बा परिणाम।
—टेनिसन

५. जीवन में परमाणु

अंतर्राष्ट्रीय भूभौतिकी वर्ष ने—भौतिकी की वह स्तब्धकारी सफलता, मानव द्वारा प्रक्षेपित उपग्रह—हमारी दृष्टि को आकाश की ओर फेर दिया है। इस तरह कि हममें से कुछ की गर्दनें दुखने लगी हैं। ऐसा लगने लगा है कि हमारा देश जूल्स वर्न्स का देश है जिसके साधनों और मानव शक्ति की सीमा नहीं है। हमें सब तरफ से बढ़ावा मिल रहा है कि हम स्टिफेन लीकॉक के नायक के पद-चिह्नों पर चलकर रॉकेटों पर सवार हो जाएँ और सब दिशाओं में उड़ने लगें। इन यात्राओं का किराया दूरियों के अनुपात में है—दोनों की गणना करोड़ों और अरबों में होती है।

हममें से बहुतों को यह आशंका है कि इन बृहद् प्रयत्नों का परिणाम जहाँ अनिश्चित है वहाँ इसमें संदेह नहीं है कि उनके कारण भू-स्थित विद्याओं की प्रगति में बाधा पड़ेगी। क्योंकि अंतरिक्ष यात्रा की तैय्यारी में यही नहीं कि हमारे साधनों का बहुत बड़ी मात्रा में उपयोग होगा बल्कि इससे भी अधिक हानिकर बात यह होगी कि उसकी ओर हमारे उन युवकों और युवतियों का ध्यान आकर्षित हो जायगा जो अधिक उपयोगी वैज्ञानिक समस्याओं की चुनौती स्वीकार करते।

फिर भी रॉकेट विद्या की आधुनिक सफलताओं से, जिन्होंने अन्तर्ग्रहीय यात्रा को असम्भव से असम्भाव्य बना दिया, एक लाभ की आशा है, वह चाहे जितनी भी क्षीण हो, जिसके कारण उन पर व्यय किया गया सारा धन सार्थक हो सकता है। यदि हम एक जीव-रसायन-शास्त्री को मंगल ग्रह पर भेज सकें, ताकि वह वहाँ जीवित वस्तुओं की तलाश कर सके तो हममें से बहुत ऐसा सोचेंगे कि रॉकेटों ने अपना औचित्य सिद्ध कर दिया। क्योंकि ऐसी जीवित

वस्तुओं का अध्ययन जो विकासीय काल-क्रम के अनुसार हमसे युगों पीछे हों, हमें अपनी जीवन प्रक्रिया समझने में सहायता दे सकता है। इसके अलावा यदि हम भाग्यशाली हों तो हमें जीवन के उषाकाल वाली आदिम जीवित वस्तुएँ मिल सकती हैं जो हमारी पृथ्वी से बहुत पहले लुप्त हो चुकी हैं और जिनका कोई चिह्न नहीं है। जीवन के ऐसे रूप का रासायनिक विश्लेषण कर हम जीवन की प्रक्रिया और उत्पत्ति दोनों को शायद समझ सकें।

ऐसा माडल उपलब्ध न होने से सम्प्रति जीवन की उत्पत्ति के बारे में जो कुछ भी कहा जाय वह आलोचनात्मक वैज्ञानिक परीक्षण के सामने टिक नहीं सकता।

दैवी सृष्टि की बात यदि हम छोड़ दें तो पृथ्वी पर जीवन के उद्भव के बारे में दो सुझाव दिये गये हैं। प्रथम सुझाव प्रसिद्ध रसायनशास्त्री आर्हेनियस ने दिया जिसका चिरस्थायी योगदान यह स्वीकृति थी कि द्रव्य विद्युत् आवेशित कणों के रूप में पायी जा सकती है। ऐसे कणों के लिए उसने आयन शब्द गढ़ा। १९०८ में आर्हेनियस ने यह सुझाव दिया कि पृथ्वी पर जीवन कुछ बीजाणुओं से आरम्भ हुआ जो अन्तर्ग्रहीय अंतरिक्ष से यहाँ आये।

अन्तर्ग्रहीय या अन्तर्नक्षत्रीय अंतरिक्ष यात्रा के लिये संचालक बल प्रकाश-किरणों का दबाव माना गया। आर्हेनियस ने गणना की कि बैक्टीरियायी बीजाणु बहुत तीव्र गति से अन्तर्ग्रहीय रिक्तता में गमन कर सकता है। उसने हिसाब लगाया कि अल्फा सेन्टारी से जीवाणु ९००० वर्षों में पृथ्वी पर आ सकता है। ऐसा सुझाव असली प्रश्न को टालता है। प्रश्न को जमीन से उठाकर आसमान पर फेंक देने के अलावा यह और कुछ नहीं है। इसके अलावा रॉकेट द्वारा किये गये अध्ययनों से हम जानते हैं कि पृथ्वी एक ऐसे क्षेत्र से घिरी है जिसमें उच्च ऊर्जा वाले आयन प्रचुर मात्रा में हैं। इसे वान ऐलन कटिबन्ध कहते हैं। इस कटिबन्ध में से किसी बीजाणु का जो सीसे के कवच से सुरक्षित न हो, सही सलामत गुजरना आसान नहीं है। अतः आर्हेनियस का जीवन-उद्भव सम्बन्धी सिद्धान्त उन्हीं कणों का शिकार हो जाता है जिनका उसने नामकरण किया था। इसके अलावा यह समझना कठिन है कि बीजाणु, जो सिरैमिक नासिका कोन से मंडित नहीं थे, वायुमंडल के सम्पर्क में आने पर घर्षण द्वारा उत्पन्न गर्मी से अपनी रक्षा कैसे कर सके होंगे।

पृथ्वी पर ही जीवन के उत्पन्न होने के विषय में दो सिद्धान्त हैं, जिन पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जा सकता है। पहले के अनुसार आदिम जीवित वस्तुएँ आटो ट्राफिक थीं अर्थात् वे पृथ्वी-तल पर उपलब्ध अकार्बनिक पदार्थों से अपनी संरचना के संघटकों का निर्माण कर सकती थीं, ठीक वैसे ही जैसे आजकल के हरे पौधे करते हैं।

ऐसी जीवित वस्तुओं में एन्ज़ाइमों का होना आवश्यक है। तभी वे परमाणुओं को जोड़कर उन पदार्थों का निर्माण कर सकते थे जो पहले नहीं थे। ऐसे जीव के संयोगतः उत्पन्न हो जाने की सम्भावना इतनी कम है कि यह सिद्धान्त दैवी सृष्टि सिद्धान्त का स्मरण दिलाता है। प्रायोगिक वैज्ञानिक के दृष्टिकोण से वह सिद्धान्त जो उस दैवी घटना पर निर्भर है जो युगों पूर्व घटित हुई हो, निरर्थक है क्योंकि हम उसका प्रायोगिक परीक्षण नहीं कर सकते। हम केवल उसका उल्लेख मात्र कर सकते हैं।

दूसरे सिद्धान्त के अनुसार आदिम वस्तुएँ उन जटिल कार्बनिक यौगिकों का समूह मात्र थीं जो पृथ्वी के प्राथमिक सागरों में प्रचुर मात्रा में पाये जाते थे। जीवनपूर्व वाली ये वस्तुएँ केवल यौगिकों को इकट्ठा कर सकती थीं। उन वस्तुओं में संश्लेषण की क्षमता कई युगों के बाद उत्पन्न हुई। इस सिद्धान्त के अनुसार इन वस्तुओं में संश्लेषण की पूर्ण क्षमता क्रमिक रासायनिक विकास के कारण उत्पन्न हुई। प्रायोगिक जीव-रसायन-शास्त्री के लिये यह अनुमान सर्वाधिक युक्तिसंगत है।

सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक बहुत से लोगों का यह विश्वास था कि आजकल के अति जटिल जीवों और पौधों की उत्पत्ति एक ही समय हुई थी। ऐसा समझा जाता था कि केंचुए और कीड़े अपने पूर्ण विकसित रूप में, मिनर्वा की तरह यदि ज़ीयस के सर से नहीं पैदा हुए, तो कम-से-कम मरे हुए पशुओं के सड़ते हुए सर से तो अवश्य ही पैदा हुए। टस्कन के रचने वाले एक चिकित्सक और कवि फ्रंसेस्को रेडी ने १६६८ में सुनियोजित प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि मक्खियों द्वारा सड़े हुये मांस में रखे गये अंडो से कीड़े उत्पन्न होते हैं। आश्चर्य है कि उसके सामयिकों ने उसके निष्कर्ष का यह कह कर विरोध किया कि वह धर्मग्रन्थों के प्रतिकूल है। सौ साल बाद १७६५ में ऐबी स्पैलेंजानी ने एक बार फिर स्वतः जनन-सिद्धान्त का खंडन किया परन्तु इस बार सूक्ष्म जीवों के मामले में उसने दिखाया कि मांस और सब्जी को उबाल कर यदि अच्छी तरह से बंद रखा जाय तो उनमें सूक्ष्म जीव नहीं उत्पन्न होते। उसके निष्कर्षों का भी विरोध किया गया। उसके इस तथ्य का यह कहकर खण्डन किया गया कि अधिक उबालने से वाइटल या जीवपरक शक्तियों का विनाश हो जाता है। वर्तमान जटिल जीवों के स्वतः जननकी धारणा का तब तक त्याग नहीं किया गया जब तक उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पास्चर ने निपुणतापूर्वक नियोजित अपने प्रयोगों को नहीं किया।

हमारे सांस्कृतिक इतिहास में १८५७ और १८५९ के वर्ष फलदायी वर्ष थे। पास्चर ने अपने दिलचस्प तथ्यों को १८५७ में प्रकाशित किया। इससे यही नहीं कि गलत स्वतः जनन सिद्धान्त का खण्डन हो गया बल्कि हम उस राह पर

चल पड़े जिस पर चल कर अंततोगत्वा हम जीवन प्रक्रिया को समझ सकते थे क्योंकि ऐसा आभास मिला कि जीवन एन्ज़ाइमों द्वारा संचालित भौतिक रासायनिक प्रतिक्रियाओं का एक एकीकृत क्रम है। १८५८ और १८५९ में वैलस और डार्विन ने 'प्राकृतिक वरण द्वारा विकास'— सिद्धान्त को प्रकाशित किया। प्रकृति की गतिविधि के विषयक इस प्रखर अंतर्दृष्टि ने सहसा उस मार्ग को दिखा दिया जिस पर चल कर कोई आदिम जीवित वस्तु, वर्तमान जटिल प्राणियों के रूप में चाहे वे मनुष्य हों या छछूंदर, विकसित हुई है। उसके बाद वाले सौ वर्षों में जीव-रसायनशास्त्रियों ने, वर्तमान प्राणियों के एक ही स्रोत के विषय में आण्विक स्तर पर अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत कर दिया है। उदाहरणार्थ, विशालकाय ह्वेल ऐडेनोसीन ट्राइफास्फेट की सहायता से अपनी पूँछ हिलाता है। परन्तु जटिल संरचना वाला यही यौगिक उस अजीब लघु सूक्ष्म जीव, थायोबैसिलस थायोआक्सीडैन्स के लिये जीवन-बैटरी का काम देता है जो गंधक को गंधकाम्ल में परिवर्तित कर जीवन-निर्वाह करता है। यह बात कि इन दो जीवों में एक ही प्रकार के कार्य के लिये उपर्युक्त पदार्थ और अन्य पदार्थों का होना केवल संयोग की बात है, वैसी ही असम्भव है जैसी यह बात कि किसी दूरस्थ ग्रह या अन्य सौर परिवार में एक ऐसा ताजमहल हो जो एक एक पत्थर की दृष्टि से आगरा वाले ताजमहल जैसा हो और उसमें भी किसी सम्राट् की कब्र हो।

प्राकृतिक वरण द्वारा विकास के सिद्धान्त या नियम ने इस बात की आवश्यकता दूर कर दी कि प्रत्येक प्रजाति के लिये पृथक् उद्भव की कल्पना की जाय। परन्तु इस समस्या ने हमारा पीछा नहीं छोड़ा कि प्रथम जीवित वस्तुएँ कैसे उत्पन्न हुईं क्योंकि विकास का नियम गत्यात्मक परिवर्तन का नियम है, स्थैतिक उद्भव का नहीं।

ठंडी होती हुई प्राथमिक पृथ्वी पर एकत्र हुए रासायनिक द्रव्यों से जीवन के किसी आदि रूप के उद्भव की धारणा, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बहुत व्यापक हो गयी। १८६८ में जर्मन दर्शनवेत्ता अर्नेस्ट हीकल ने 'द हिस्ट्री आॅव क्रियेशन' (सृष्टि का इतिहास) नामक पुस्तक में लिखा कि प्रथम जीवन या अर्ध जीवन युक्त वस्तुएँ उस प्रोटीन की 'समांग, संरचना रहित तथा अक्रिस्टलीय ढेरियाँ' मात्र रही होंगी जो आदिम सागरों में घुले हुए द्रव्य से उत्पन्न हुआ होगा। स्वयं डार्विन का भी ऐसा ही विचार था, यह बात उनके द्वारा १८७१ में लिखे गये एक पत्र से प्रकट है। उसमें उन्होंने आदि सृष्टि की धारणा के विरुद्ध इस तर्क का खण्डन किया था कि वैसी सृष्टि आजकल क्यों नहीं होती। उन्होंने लिखा—

ऐसा प्रायः कहा जाता है कि जीवनयुक्त वस्तु की प्रथम उत्पत्ति के लिये वे सारी परिस्थितियाँ आज भी वैसी ही हैं जैसी वे कभी भी रही होंगी। परन्तु यदि (और हाँ, यह यदि कितना बड़ा है!) हम यह कल्पना करें कि किसी उष्ण छोटे तालाब में सब प्रकार के अमोनिया और फास्फोरस के लवण, प्रकाश ऊष्मा, विद्युत् आदि हैं और इनके रासायनिक संयोग से प्रोटीन बनता है जो और भी अधिक जटिल परिवर्तनों के लिये बिल्कुल तैयार है, तो ऐसा पदार्थ तत्काल निगल या जज़्ब कर लिया जायगा। परन्तु जीवनयुक्त प्राणियों के निर्माण के पूर्व ऐसा नहीं होता।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि एन्ज़ाइमों के आविष्कार के बीस वर्ष पूर्व और यह सिद्ध किये जाने के साठ वर्ष पूर्व कि एन्ज़ाइम भी प्रोटीन हैं, हीकेल और डार्विन दोनों ने जीवनयुक्त आदि वस्तुओं की मूल संरचना के लिये प्रोटीनों को उत्तरदायी बताया।

रासायनिक द्रव्यों के एकत्रीकरण से प्रोटीनों के निर्माण होने वाले सिद्धान्त में यह बात निहित है कि आदि सागरों में प्रोटीनों के संघटक ऐमिनो अम्ल प्रस्तुत थे। उन परिस्थितियों में, जो पृथ्वी की प्राथमिक अवस्था में रही होंगी, ऐमिनो अम्लों के संश्लेषण से प्रोटीन बनाने के बहुत-से प्रयत्न किए गये। गैसों के ऐसे मिश्रणों में, जिनकी ठंडी होती हुई पृथ्वी पर सम्भवतः बहुलता थी, विद्युत् स्फुलिंग उत्पन्न कर या अल्ट्रा वायलेट किरणों का विकिरण कर, यह देखने के लिए उनका विश्लेषणात्मक परीक्षण किया गया कि शर्कराएँ और ऐमिनो अम्ल उत्पन्न हुए कि नहीं। परिणाम उत्साहवर्धक नहीं था। अभी हाल तक, विश्लेषणात्मक विधियाँ इतनी असन्तोषजनक थीं कि शर्करा के अलावा अन्य पदार्थों के संश्लेषण के जो दावे किए गए वे उन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए जिन में वे किए गए, विश्वसनीय नहीं थे। इस के अलावा सभी शोध-कर्ताओं ने यह गलत बात मान ली थी कि प्राथमिक पृथ्वी के वातावरण में कार्बन, कार्बन डाइआक्साइड के रूप में वर्तमान था।

१९३६ में रूसी जीव-रसायन-शास्त्री अकैडेमिशियन ए० आई० ओपैरिन की दिलचस्प पुस्तक 'द ऑरिजिन ऑव लाइफ' (जीवन की उत्पत्ति) प्रकाशित हुई। तब से यह पुस्तक इस क्षेत्र में किसी भी ऐसे विचार-विनिमय के लिए आधार-भूत पुस्तक हो गयी है, जिसका सम्बन्ध कल्पना से नहीं अपितु कुछ उपलब्ध तथ्यों से होता है।

सर्वप्रथम ओपैरिन ने यह निष्कर्ष निकाला कि पृथ्वी के प्राथमिक वातावरण में कार्बन, कार्बन डाइआक्साइड के रूप में नहीं बल्कि हाइड्रोकार्बनों के रूप में प्रस्तुत रहा होगा। ये ऐसे यौगिक हैं जिनमें कार्बन की एक शृंखला होती है जिसमें बीच-बीच में हाइड्रोजन पिरोये होते हैं। हाइड्रोकार्बनों से अनेक प्रकार

के भिन्न कार्बनिक यौगिक बन सकते हैं, जैसे ऐल्काहल, अम्ल, ऐल्डीहाइड। इनमें से कुछ अमोनिया के साथ मिलकर ऐमिनो अम्ल बना सकते हैं।

परन्तु ऐमिनो अम्लों का इससे भी अधिक तर्कसंगत स्रोत शीघ्र ही मालूम कर लिया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध से वापस आने पर डॉ० हेरॉल्ड सी० यूरे ने आइसोटोपों पर कार्य करना छोड़कर ग्रहों की उत्पत्ति का अध्ययन आरम्भ कर दिया। इस क्षेत्र में भी उन्होंने वैसा ही अद्भुत योगदान किया है जैसा कि आइसोटोपों से सम्बन्धित क्षेत्र में उन्होंने पहले किया था। यद्यपि डॉ० यूरे, ओपैरिन के कार्य से परिचित नहीं थे फिर भी उन्होंने मालूम किया कि प्राथमिक पृथ्वी पर हाइड्रोजन की प्रचुरता के कारण कार्बन का स्थायी रूप मीथेन रहा होगा। यह सबसे सरल हाइड्रोकार्बन है, जिसमें एक कार्बन परमाणु के साथ चार हाइड्रोजन परमाणु संयुक्त होते हैं। इसी तरह इस बात की बहुत अधिक सम्भावना है कि नाइट्रोजन, अमोनिया के रूप में उपस्थित रहा होगा जिसमें एक नाइट्रोजन के साथ तीन हाइड्रोजन परमाणु जुड़े होते हैं। इससे भी ओपैरिन के निष्कर्ष की पुष्टि हुई।

ग्रहों के प्राथमिक वातावरण की प्रकृति के बारे में ओपैरिन-यूरे परिकल्पना की पुष्टि खगोल भौतिकी ने की है। बृहदाकार ग्रहों, बृहस्पति, शनि और यूरैनस के वर्ण-क्रमों के अध्ययन से हम निश्चित रूप में यह जानते हैं कि उनके वायुमंडलों में मीथेन और अमोनिया हैं। वे वातावरण अभी भी प्राथमिक अवस्था में हैं, इसके तीन कारण हैं। उनका ताप पृथ्वी की अपेक्षा बहुत कम है अतः वहाँ रासायनिक प्रतिक्रियाएँ मंद गति से होती हैं। चूँकि वे सूर्य से बहुत दूर हैं अतः उन पर पड़ने वाली अल्ट्रावायलेट किरणों की ऊर्जा कम तीव्र है। और अंत में चूँकि वे बहुत भारी हैं अतः उनका गुरुत्वाकर्षण भी अधिक है अतः वे अपने प्राथमिक वातावरण को अपेक्षाकृत अधिक समय तक अपनी पकड़ में रख सके हैं।

अतः यदि कार्बन डाइआक्साइड नहीं बल्कि मीथेन वह आदि कड़ी है जिससे कार्बन अणुओं की शृंखलाएँ निर्मित हुईं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इन अणुओं को बनाने के उद्देश्य से, गलत दशाओं में, ऐमिनो अम्लों के निर्माण के लिए जो प्रयत्न किये गए, वे क्यों असफल हुए। अगर अंडे की सफेदी के बजाय अंडे की ज़र्दी से स्कूफल बनाने का प्रयत्न अच्छा-से-अच्छा बावर्ची भी करे, तो वह सफल नहीं होगा।

डॉ० यूरे ने १९५२ में लिखा—

यदि अल्ट्रावायलेट प्रकाश की उस मात्रा में, जिस अनुपात में वह सूर्य-प्रकाश के वर्णक्रम में पाई जाती है, जल और मीथेन से कार्बनिक यौगिकों को बनाने के लिए प्रयोग किया जाय तो मेरे विचार से वह बहुत सफल होगा। यह भी मालूम करना चाहिए कि इस प्रतिक्रिया पर विद्युत् विसर्जन का क्या प्रभाव

पड़ता है क्योंकि यह मानने के लिए काफी आधार है कि प्राथमिक वायुमंडल में विद्युत् विसर्जन होता रहा होगा।

ऐसे प्रयोग वास्तव में लाभप्रद सिद्ध हुए। डॉ० यूरे के एक युवक ग्रैजुएट छात्र डा० स्टैन्ले एल० मिलर ने प्राथमिक पृथ्वी के वायुमंडल जैसे एक गैस मिश्रण में विद्युत् स्फुलिंग पैदा किये। यह प्रयोग उसने कुछ निम्नलिखित प्रकार से किया। एक उपयुक्त ढंग से बने उपकरण में जल तथा तीन गैसें, मीथेन, अमोनिया और हाइड्रोजन ली गयीं। काँच का उपकरण इस तरह से बनाया गया था कि पानी को बनाया जा सकता था, तब उसे ठंडा कर फिर पानी बनाया जा सकता था, और उस भाग में जिसमें से होकर भाप और तीनों गैसें गुजरती थीं निरन्तर विद्युत् स्फुलिंग पैदा किए जा सकते थे। आक्सीजन की अनुपस्थिति में, ठंडा करना और स्फुलिंग उत्पन्न करना एक सप्ताह तक जारी रहा। इस अवधि के बाद प्रतिक्रिया बंद कर दी गयी, बर्तन ठंडा किया गया और उसे खोला गया ताकि गैसें निकल जाएँ। तब पानी को भाप बनाकर उड़ा देने के बाद वह उत्तेजना-पूर्ण क्षण आया। एक ठोस पदार्थ बच रहा। यदि कोई प्रतिक्रिया न हुई होती तो कोई ठोस वस्तु न मिलती क्योंकि आरम्भ में कोई ठोस वस्तु नहीं थी।

इस प्रकाशनिर्मित नये ठोस का रासायनिक विश्लेषण एक आसान बात थी क्योंकि उस समय तक रासायनिक पदार्थों की अति सूक्ष्म मात्राओं के विश्लेषण का कागज रंग आलेखन तरीका मालूम हो चुका था। पता चला कि ठोस कई कार्बनिक यौगिकों का, जिनमें ऐमिनो अम्ल भी काफी मात्रा में थे, एक मिश्रण है। यह चकित करने वाला समाचार था परन्तु अभी हाल ही में इससे भी अधिक अद्‌भुत तथ्यों की सूचना एक युवक रसायनशात्री ने दी। यदि गैसों के उसी मिश्रण में कुछ लौह सल्फाइड मिलाया जाय और उस पर अल्ट्रा वायलेट किरणें पड़ने दी जायँ तो कुछ अन्य ऐमिनो अम्ल जैसे फेनिलैलनीन तथा गंधक युक्त मिथियोनीन उत्पन्न होते हैं। साथ ही इन तथा अन्य ऐमिनों अम्लों के जटिल समूह भी पैदा होते हैं। इन जटिल पदार्थों या पालीपेप्टाइडों का निर्माण विशेष दिलचस्पी की बात है क्योंकि वे उसी प्रक्रिया द्वारा जुड़े होते हैं जिससे प्रोटीन अणुओं का निर्माण होता है। चूँकि इस तरीके से पालीपेप्टाइडों का निर्माण सम्भव है अतः और अधिक ऐमिनो अम्लों के मिलने से अपेक्षाकृत दीर्घतर प्रोटीन अणुओं का निर्माण केवल समय की अपेक्षा करता है। जिस तरीके से रूमाल बुना जा सकता है, उस तरीके से निश्चय ही मेजपोश भी बुना जा सकता।

ये आविष्कार असाधारण रूप से सांकेतिक हैं। फेनिलैलनीन की संरचना कुछ जटिल है। इसमें छः कार्बन परमाणु मिलकर एक अंगूठी जैसी आकृति बनाते हैं, जिनमें से पाँच कार्बन परमाणुओं के साथ एक-एक हाइड्रोजन परमाणु जुड़े

होते हैं। छठे कार्बन से तीन कार्बन परमाणु जुड़े होते हैं। इनमें से दूसरे कार्बन के साथ एक नाइट्रोजन और दो हाइड्रोजन परमाणु या ऐमिनो समूह जुड़ा होता है। तीसरे कार्बन से दो आक्सीजन और एक हाइड्रोजन या अम्ल समूह जुड़ा होता है।

अल्ट्रावायलेट विकिरण के प्रभाव से चार प्रकार के तत्त्वों के तेईस परमाणुओं का ठीक उसी प्रकार से व्यवस्थित हो जाना, जिस प्रकार वे एक अनिवार्य ऐमिनो अम्ल में होते हैं, एक जादुई बात है। वास्तव में यह आण्विक प्रतिक्रिया का एक जादू है। परन्तु रसायनशास्त्री के लिये, ऊष्मा, दबाव और विकिरणों द्वारा होने वाले ऐसे परिवर्तन उतने जादूई नहीं प्रतीत होते जितना औरों को। ऐसे परिवर्तनों से ही उसकी जीविका चलती है। उस आश्चर्यजनक औषधि ऐस्पिरिन[1] के निर्माण में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कदम कार्बोलिक अम्ल और कार्बन-डाइआक्साइड को एक साथ दबाव के अन्तर्गत गरम करना है और इससे सैलि-सिलिक अम्ल बन जाता है।

वह विशेष पदार्थ, फेनिलैलनीन, अल्ट्रावायलेट प्रकाश के प्रभाव के कारण किस प्रकार निर्मित होता है? सच्चाई यह है कि उन दशाओं में सैकड़ों अन्य पदार्थ भी निर्मित होते हैं। परन्तु उनमें से अधिकांश इतने अस्थायी होते हैं कि वे एक सैकण्ड के अंशों, से अधिक देर तक नहीं ठहरते। फेनिलैलनीन तथा अन्य ऐमिनो अम्ल स्थायी होते हैं तथा सम्बन्धित परमाणुओं के सांद्रित समूह होते हैं। एक बार बन जाने पर, जैसा कि फासिलों (जीवों के प्रस्तरावशेषों) से हमें मालूम है, वे तीस करोड़ वर्ष तक कायम रह सकते हैं। अतः अन्य अस्थायी क्षणिक पदार्थों के व्यय पर उनकी मात्रा में वृद्धि होती रहेगी।

इन दशाओं में बनाये गये ऐमिनो अम्लों के बारे में एक आश्चर्यजनक बात यह है कि वे प्रायः वे अम्ल होते हैं जिनके दूसरे कार्बन-परमाणु से ऐमिनो समूह जुड़ा होता है। अर्थात् वे सदा तथाकथित ऐल्फा-ऐमिनो अम्ल होते हैं। ये वही ऐल्फा-ऐमिनो अम्ल हैं जिनसे हमारे शरीर के प्रोटीन तथा फासिलों के प्रोटीन बने होते हैं। यदि कार्बन परमाणुओं की प्रवृत्ति भिन्न होती अर्थात् यदि वे बीटा

---

१. चूँकि ऐस्पिरिन उस युग के रसायनज्ञों की देन है जब जोरदार नारों का उतना प्रचार नहीं था जितना आज है और चूँकि सरदर्द की कई पीढ़ियों द्वारा इस्तेमाल हो जाने के कारण इस के हम आदी हो चुके हैं अतः अद्भुत औषधि की उस उपाधि से इसे नहीं विभूषित किया गया है, जिसकी वह पात्र है। परन्तु वह है अद्भुत औषधि। पेनिसिलिन की ही तरह इसमें कोई सम्बन्धित हानि नहीं होती। जहाँ तक उनकी आपेक्षिक योग्यता की बात है, पेनिसिलिन केवल जीवन की रक्षा करता है परन्तु ऐस्पिरिन प्रायः उसे जीने योग्य बनाता है।

ऐमिनो अम्ल बनाते तो हमारे प्रोटीनों के सर्वथा भिन्न गुण होते। तब हम बिल्कुल भिन्न दिखाई देने वाले प्राणी होते। परन्तु जीवन की आकृति निर्धारित करने में कार्बन-परमाणु की क्षमता का केवल एक पहलू है। कार्बन परमाणु जब अस्तित्व में आया तभी जीवन की सम्भावना उसमें निहित हो गयी। क्योंकि सारे ज्ञात तत्त्वों में, स्वयं अपने परमाणुओं के संयोग से अनेक प्रकार के बृहद् अणुओं का निर्माण करने के मामले में कार्बन सर्वाधिक सक्षम है। केवल ऐसे ही बहुमुखी क्षमता वाले तत्त्व से जो अपने को अनेक प्रकार के ऐसे पैटर्नों में व्यवस्थित करने की योग्यता से युक्त हो कि उनमें से प्रत्येक के अपने नये और विशेष गुण हों, जीवन जैसी अद्भुत और जटिल वस्तु प्रकट हो सकती थी। यह सुझाव दिया गया है कि द्रव्य के साथ-ही-साथ जीवन की सृष्टि हुई। यह कथन इस अर्थ में सत्य हो सकता है कि जीवन की चिनगारी कार्बन परमाणु के संयोजक एलेक्ट्रानों में झिलमिलाने लगी।

जीवन कैसे उत्पन्न हुआ ? मैं पाठक को चेतावनी देना चाहता हूँ कि इस विषय में वे ही तथ्य ज्ञात हैं जिनका उल्लेख मैंने ऊपर किया है। अर्थात् ऐमिनो अम्ल तथा अन्य कार्बनिक अणु प्राथमिक पृथ्वी पर आसानी से बन सकते थे। दूसरा युग, जिसके बारे में हमें कुछ तथ्य मालूम हैं, कैम्ब्रियन युग है। प्राचीनतम फासिल हमें इसी युग के मिलते हैं। इन दोनों के बीच अरबों वर्षों में क्या हुआ, इस विषय में कोई कुछ भी अनुमान लगा सकता हैं। इस बारे में अटकलबाजी करना एक ऐसा खेल है जिसे कोई भी खेल सकता है और सच यह है कि हर एक खेलता है। हममें से बहुतों के लिये यह एक मजेदार खेल है। वैज्ञानिक का पेशा ऐसा है कि उसमें सूक्ष्म वस्तुओं के साथ बहुत माथा-पच्ची करनी पड़ती है। अतः कभी-कभी अपने संकुचित दायरे से निकल भागना तथा विज्ञान की प्रणालियों और नैतिकता द्वारा, और कहना न होगा विज्ञान के सम्पादकों द्वारा लगाये गये प्रतिबंधों को उतार फेंकना और सृष्टि-शास्त्रज्ञ की भूमिका अदा करना बहुत ही आनन्ददायी है। उन घटनाओं के बारे में अटकलबाजी करना जो युगों पूर्व ऐसी परिस्थितियों में घटित हुईं, जिन्हें दोहराया नहीं जा सकता, एक अच्छा दिलबहलाव है। इसकी तुलना में यह बात बहुत परेशानी की है कि वर्तमान जगत् के बारे में किसी मामूली से तथ्य को सिद्ध करने के लिये एड़ी-चोटी का पसीना एक किया जाय और कोई सहयोगी उसे तत्काल चुनौती दे दे।

यदि पाठक मेरे यहाँ आना और काफी का एक प्याला पीना पसंद करे तो जीवन के उद्भव के बारे में वह कुछ इस तरह की बात सुन सकता है।

आइये, आदिम पृथ्वी की कल्पना करें। बहुत से ऐसे प्रमाण हैं जिनसे पता चलता है कि एक समय वह खौलते हुए तप्त द्रव्य के रूप में थी जो

धीरे-धीरे इतना ठंडा हो गया कि उसके ऊपर की भाप पानी बन कर बरस पड़ी और विशाल समुद्र बन गये। लगभग ३ अरब वर्ष पूर्व उसके वायु-मंडल में मुख्यतः मीथेन, अमोनिया, हाइड्रोजन और पानी की भाप थी। इन गैसों के मिश्रण को सूर्य की रोशनी के रूप में अत्यधिक ऊर्जा प्राप्त होती थी। (आजकल पृथ्वी के एक वर्ग सेंटीमीटर को प्रति वर्ष २६०,००० कैलरी ऊष्मा प्राप्त होती है।) वायुमंडलीय तड़ित से भी ऊर्जा प्राप्त होती थी परन्तु उसकी मात्रा अपेक्षाकृत बहुत कम थी। (सम्प्रति इसकी मात्रा प्रति वर्ष ४ कैलरी प्रति वर्ग सेंटीमीटर है।)

वायुमंडल में कार्बनिक पदार्थों की अत्यधिक मात्रा निरंतर बनती रहती थी। जैसे ही ये पदार्थ बनते थे वैसे ही मूसलाधार वर्षा के कारण वे नीचे आकर समुद्र में इकट्ठा हो जाते थे। आजकल पृथ्वीतल पर जितना कार्बन है वह सब यदि किसी समय घुलनशील रूप में समुद्र में रहा होता तो वहाँ उसकी मात्रा २ अरब अरब (२×१०^{१८}) टन होती। अंग्रेज जीव-रसायन-शास्त्री जे० बी० एस० हैल्डेन ने, जो उन वैज्ञानिकों में एक है जो जीवन के उद्भव के बारे में कागजी अटकल बाजी करते हैं, कार्बन यौगिकों से लदे समुद्रों को 'उष्ण पतला काढ़ा' कहा है। यदि सारा कार्बन वास्तव में कार्बनिक यौगिकों और विशेषकर पॉलीपेप्टाइडों के रूप में विद्यमान था तो वह काफी 'गाढ़ा काढ़ा'[१] रहा होगा। (ये अटकलबाजियाँ 'पतली' और 'गाढ़ी' इकाइयों से अधिक यथार्थ इकाइयों के योग्य नहीं हैं।)

किसी को कैसा भी काढ़ा पसंद हो, इसमें संदेह नहीं कि आदिम समुद्रों में ऐसे कार्बनिक यौगिकों का अत्यधिक बाहुल्य था जो अंततोगत्वा जीवन के निर्माण के लिये ईंटों का काम कर सकते थे। उन आदिम समुद्रों में कौन से विशेष पदार्थ विद्यमान रहे होंगे?

यह निश्चित है कि आदिम वायुमंडल में कार्बनिक अणुओं का निर्माण उससे बहुत बड़े पैमाने पर होता रहा होगा जिसकी कल्पना हम उन कुछ प्रयोगों से कर सकते हैं जो इस दिशा में किये गये हैं। किसी स्वीकारात्मक जानकारी से हमें दोहरा लाभ होता है—यही नहीं कि हमें एक नयी बात मालूम होती है बल्कि और नयी बातों के मालूम होने की आशा होती है। परन्तु एक नकारात्मक जानकारी से हमें दोहरी परेशानी होती है। हम घपले

---

१. इस क्षेत्र में संदर्भों का उद्धरण देने में खतरा है। इससे वैज्ञानिक लेख को बहुत महत्त्व मिल जाता है। सामान्यतः हम जब किसी संदर्भ को उद्धृत करते हैं तब वह एक तथ्य होता है जिसकी अन्यों द्वारा पुष्टि हुई होती है। परन्तु इस क्षेत्र में संदर्भ प्रायः किसी के अनुमान मात्र का सूचक होता है।

में पड़ जाते हैं। हम सोचते हैं हो सकता है दी हुई परिस्थितियों में वह प्रतिक्रिया जिसकी हम अपेक्षा करते थे, न घटित हुई हो। परन्तु मन में यह भी संदेह उठता है कि शायद वह कभी भी घटित न हो। यदि कोई रसायनज्ञ यह रिपोर्ट देता है कि कृत्रिम आदिम गैसों में कई दिन तक स्फुलिंग पैदा कर या विकिरण की बौछार कर, प्यूराइनों या प्राफिरनों के निर्माण का उसे कोई प्रमाण नहीं मिला तो वास्तव में वह केवल यह कर कहा है कि उन विशेष परिस्थितियों में वह उन पदार्थों को इतनी मात्रा में नहीं पा सका है कि उपलब्ध विधियों से वह उनका मापन कर सके। यदि मात्रा एक ग्राम के करोड़वें भाग ($१^{=१०}$ ग्राम) से कम हो तो हमारे सर्वाधिक सुग्राही परीक्षणों से भी उनके अस्तित्व का पता नहीं चल सकता। अणुओं की वह संख्या भी जो रसायन की पहुँच के बाहर है, खगोलीय है। वह लगभग एक लाख अरब ($१०^{१४}$) है।

रसायनज्ञ छोटे-से बर्तनों में कई दिन तक प्रयोग करता है। ऐसी हालत में करोड़ों वर्षों के दौरान आदिम समुद्रों में कौन से पदार्थ एकत्र हो गये होंगे, इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। समुद्र-तट के समीप सिलिकेट खनिज वाली कुछ तलहटियों में चयनात्मक ढंग से विरलतम कार्बनिक-अणु एकत्र हो सकते थे।

सम्भवत: यह बात महत्त्वपूर्ण है कि जीवन निर्माण के लिये आवश्यक संरचनात्मक इकाइयाँ असाधारण रूप से दृढ़ यौगिक होती हैं। ऐमिनो-अम्लों के स्थायित्व पर हम विचार कर चुके हैं। प्राफिरिन भी वैसे ही दृढ़ होते हैं। ये अणु कभी प्रमुख उत्प्रेरक अणुओं के काटने वाले दाँतों का काम देते हैं। वे क्लोरोफिल में पाये जाते हैं जहाँ ये प्रकाश-संश्लेषण में भाग लेते हैं। हीमॉग्लॉबिन में वे आक्सीजन का संचार करते हैं। साइटोक्रोमों में वे कोशीय श्वसन करते हैं। कोप्रॉपॉर्फिटिन, लाल कोशिकाओं की मृत्यु से उत्पन्न प्राफिरिनों का अंतिम उत्सर्जित द्रव्य है। कोप्रॉपॉर्फिन इतना स्थायी है कि यह उन घड़ियालों के फॉसिल मल में ज्यों का त्यों पाया गया है जो ५ करोड़ वर्ष पूर्व धूप सेवन करते रहे होंगे। प्यूराइन और पाइरिमिडाइन भी जो न्यूक्लिइक अम्लों को बनाने वाली ईंटें हैं, बहुत स्थायी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन का विकास ऐसे अणुओं से हुआ जो आदिम समुद्रों में वर्षों बिना घिसे पड़े रहे और जीवन के निर्माण के लिये इस्तेमाल किये जाने की प्रतीक्षा करते रहे।

परन्तु स्थायी कार्बनिक अणुओं के तरल गोदाम से जीवन कैसे प्रकट हुआ? इस समस्या से निबटने में हमें एक बहुत बड़ी बाधा का सामना करना पड़ता है—हमारे सामने कोई मॉडल नहीं है। जीव-रसायन-शास्त्री केवल जीवन की प्रक्रिया का प्रेक्षण कर सकता है। वह उसके बारे में शायद ही

कभी भविष्यवाणी कर सकता है। जीव-विज्ञान के इतिहास के अध्ययन से केवल एक बात निश्चित रूप में सामने आती है कि प्रकृति की प्रणालियों के सामने हमारी कल्पना को सदा मुँह की खानी पड़ती है। चट्टानों में दबे हुए और हमें घूरते हुए प्रमाणों के अभाव में भला मानव मस्तिष्क इसकी कल्पना कर सकता था कि हम ईल या लैन्स्लेट जैसी पृष्ठ रज्जु वाली किसी मछली से विकसित हुए हैं? क्या हम कभी इसकी कल्पना कर सकते थे कि जीवन यंत्र फॉस्फेट बंधन ऊर्जा के भरोसे चलता है?

दुर्भाग्यवश जीवनपूर्व वस्तुओं के मॉडल तब तक देखने को नहीं मिलेंगे, जब तक कोई सुप्रशिक्षित जीव-रसायन-शास्त्री मंगल ग्रह पर उतार नहीं दिया जाता। और खेद है कि वहाँ भी हमारा जाना शायद बेकार सिद्ध हो क्योंकि उस ग्रह के समुद्रों का पानी भाप बन कर उड़ चुका है। यदि बदलती हुई ऋतुओं के साथ मंगल ग्रह का बदलता हुआ रंग वहाँ की वनस्पतियों का द्योतक है, जैसा कुछ विशेषज्ञों के लिये वह है, तो उस ग्रह पर जीवन काफी उन्नत अवस्था में है।

इस बीच हमें अटकलबाजियों से ही संतोष प्राप्त करना होगा क्योंकि हम इन अटकलों को परिकल्पना का सम्मानित पद नहीं दे सकते जिसका विज्ञान के तर्क शास्त्र में सुपरिभाषित शब्द है। परिकल्पना, प्रेक्षित घटनाओं और तथ्यों का एकीकरण है और उसके द्वारा अन्य घटनाओं के बारे में भविष्यवाणी की जा सकती है। चाहे उनका अस्तित्व पहले से ही हो चाहे उन्हें प्रयोगों द्वारा अस्तित्व में लाया जाय। हम ऐसे प्रयोग का नियोजन भला कैसे कर सकते हैं जो उस घटना को दोहराये जो शायद एक अरब वर्षों की आण्विक प्रतिक्रियाओं का परिणाम हो?

जीवन के उद्भव के विषय में जो भी अनुमान किया गया है वह मूलतः वर्तमान जीवित कोशिकाओं की कुछ ज्ञात प्रक्रियाओं के आधार पर किया गया है। हम एक ऐसे आदिम प्रोटीन अणु पर वर्तमान प्रोटीन अणुओं के कुछ गुणों का आरोप मात्र करते हैं जो क्रमचय और संचय के अपरिवर्तनीय नियमों द्वारा अस्तित्व में आये। उदाहरणार्थ हमारा अनुमान है कि जब प्रोटीन अणुओं का कोई समूह, जिनमें उत्प्रेरण-क्षमता थी, किसी लहर द्वारा ऐसे मैग्नेशियम सिलिकेट की ढेरी पर आ पड़ा जिसपर प्राफिरिन अणुओं की पपड़ी थी, तब प्रकाश-संश्लेषण क्रिया लड़खड़ाती हुई आरम्भ हो गई होगी। क्योंकि वर्तमान प्रकाश संश्लेषण क्रिया के लिये ये ही वस्तुएँ आवश्यक हैं—प्राफिरिन, मैग्नेशियम और प्रोटीन एन्ज़ाइम। सूक्ष्म-जीव जनन विज्ञान के कुछ ज्ञात नियमों के आधार पर हम कहते हैं कि ऐसे आदिम द्रव्य समूह में जीवित रहने की क्षमता है। दूसरे प्रोटीन समूह, जिनमें संश्लेषण-क्षमता नहीं है अपने कुछ पोषण तत्त्वों को समाप्त

कर विघटित हो जायेंगे परन्तु संश्लेषण-क्षमता से युक्त अणु अस्थायी स्थानीय दुर्भिक्ष की अवस्था में भी जीवित रह सकते हैं। किसी द्रव्य समूह में संश्लेषण की जितनी ही क्षमता होगी, उसके जीवित रहने की सम्भावना उतनी ही अधिक होगी। अतः प्राकृतिक वरण आण्विक स्तर पर भी कार्य कर सकता है और वह उन द्रव्य समूहों को जीवित रहने में सहायता देगा जिनकी संश्लेषण-क्षमता और संरचना अधिक जटिल होगी।

ऐसी अटकलें उत्सुकता बढ़ाती हैं परन्तु लेखक के मत से विज्ञान के लिए लाभदायक नहीं हैं। ऐसा अनुमान जो किसी ऐसे प्रयोग का सुझाव नहीं देता जिससे हमारे ज्ञानकोष की वृद्धि हो, बेकार है।

उन जीवनपूर्व वस्तुओं के बारे में भला हम क्या जान सकते हैं जिनका कोई भी चिह्न उन आदिम समुद्रों में शेष नहीं बचा। वे इतनी छोटी रही हों कि केवल सूक्ष्मदर्शी यंत्र से देखी जा सकती थीं, या वे आजकल की जेली मछली जितनी बड़ी रही हों या वे एक महाद्वीप जितनी बड़ी रही हों। सम्प्रति यह मान लेना काफी होगा कि जैसे विशेष परिस्थितियों में सूर्य की रोशनी के प्रभाव से थोड़े समय के भीतर छोटे अणुओं के योग से अत्यन्त जटिल ऐमिनो अम्ल बन जाते हैं, उसी तरह आदि समुद्रों में भरे पड़े अणुओं के योग से आण्विक विकास द्वारा एक अरब वर्षों के भीतर एक जीवन युक्त तथा जनन क्षमता वाली वस्तु प्रकट हुई होगी। जैसे कम स्थायी आण्विक समूहों के व्यय पर अधिक स्थायित्व के कारण ऐमिनो अम्ल की मात्रा में वृद्धि होती है, उसी तरह प्रकृति के अरबों अव्यवस्थित प्रयोगों में से ऐसी जीवन-युक्त वस्तुओं का इसलिए वरण हुआ हो क्योंकि उनमें अपनी प्रजाति को कायम बनाये रखने की या अपनी जैसी दूसरी वस्तुएँ बनाने की अपूर्व क्षमता थी।

यदि ऐसा आण्विक विकास युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता तो कार्बनिक विकास भी युक्ति-संगत नहीं होना चाहिये, भले ही उसके लिये चट्टानों में प्रमाण अंकित हों। लेखक के लिए यह विश्वास करना कहीं आसान है कि प्रकृति के अव्यवस्थित प्रयोगों के फलस्वरूप एक अरब वर्ष बाद जीवित एककोशीय जीव प्रकट हुए बजाय इसके कि बीथोवन और आइन्स्टाइन, कठिनाई से साँस लेती हुई किसी क्षुद्र मछली से विकसित हुए।

पूर्वनिर्मित अणुओं से जीवन के विकास का भौतिकवादी सिद्धान्त युक्ति-संगत है क्योंकि वह क्रमिक विकास की कल्पना है जो आण्विक स्तर पर आरम्भ हुआ। हमारे ब्रह्मांड में विकासवादी परिवर्तन एक व्यापक पैटर्न है। प्रकृति जो घोर परम्परावादी है, अचानक परिवर्तन से घृणा करती है। परमाणुओं का विकास परमाणुओं से हुआ है अर्थात् न्यूनतम भार वाले परमाणुओं के संयोग से भारी परमाणुओं का निर्माण हुआ है। सौर परिवार ने एक

विशाल पैमाने पर परमाणु की संरचना को दोहराया है। पिछले करोड़ों वर्षों के दौरान क्रमिक विकास निश्चय ही जीवन का प्रमुख पैटर्न रहा है, सम्भव है उसके पहले अरबों वर्षों में आण्विक विकास का बोलबाला रहा हो।

इस सिद्धान्त का केवल प्रथम चरण, जिसके अनुसार बेतरतीब प्रोटीन अणुओं के एकत्र होने से एक जनन-क्षमता से युक्त तंत्र बन गया, अत्यधिक असंभव है। उसके पश्चात् यह सिद्धान्त क्रमिक जीवन-विकास का समर्थन करने के कारण संभाव्य हो जाता है।

परन्तु हम जैसे-जैसे मूल स्रोतों के निकट पहुँचते जाते हैं वैसे-वैसे सृष्टि के प्रत्येक वर्णन की असंभाव्यता बढ़ती जाती है। विश्व-सृष्टि की दैवी घटना के बाद आदम की सृष्टि दूसरी दैवी घटना थी। परन्तु एक जीवित पसली की हड्डी से ईव की रचना टिशू कल्चर की सम्भावनाओं का दम्भपूर्ण प्रदर्शन मात्र था।

चूँकि मैंने भविष्य में डुबकी लगाई, उतनी
दूर जितनी मानव दृष्टि देख सकती थी,
विश्व का दृश्य और सब सम्भव आश्चर्यों को देखा।
—टेनिसन

६. श्रेष्ठतम अभी आगे है

"जीव-विज्ञान का उसी तरह अंत होगा जिस तरह उसकी उत्पत्ति हुई अर्थात् व्यावहारिक रसायन और भौतिकी के रूप में।" यह उदाहरण प्रसिद्ध बैक्टीरियाविद् डा० हैन्स जिन्सर की पुस्तक, 'रैट्स, लाइस और हिस्ट्री' (चूहे, जूँ और इतिहास) से लिया गया है।

यह अच्छी बात है कि यह भविष्यवाणी एक प्रमुख जीवशास्त्री ने की, क्योंकि यदि यही बात किसी जीवरसायन-शास्त्री ने कही होती तो हम समझते कि यह एक पक्षपाती तथा उत्साही व्यक्ति की अनुत्तरदायित्वपूर्ण बकवास है।

पुराना जीव-शास्त्री या यों कहिए कि जीवन के अध्ययन के लिए पुरानी प्रणालियों का उपयोग करने वाले जीव-शास्त्री को अन्ततोगत्वा तकनीकी बेकारी का शिकार होना पड़ेगा। इस अभिशाप का कारण है उस विषय की प्रकृति जिसका वह अध्ययन करता है। एक जीवित कोशिका आयनों और अणुओं का पैटर्नयुक्त समूह है। उन आयनों और अणुओं की परस्पर क्रियाओं का क्रम जीवन है। स्पष्टतः जीवन का सर्वाधिक लाभप्रद अध्ययन होगा भौतिक रासायनिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन। दुर्भाग्यवश हमने अभी ही आण्विक स्तर पर जीवन का अध्ययन आरम्भ किया है। जीव-विज्ञान वृद्धि की इस अवस्था तक जिस मार्ग से हम आये हैं वह लम्बा और दुर्गम था।

स्थूल शरीर रचना विज्ञान अर्थात् शरीर के अंगों की आकृति और संरचना का अध्ययन सोलहवीं शताब्दी में आरम्भ हुआ। भिन्न अंगों की संरचना में भेदों को नोट किया गया। परन्तु उन भेदों का कारण तब तक अस्पष्ट रहा जब तक

सूक्ष्मदर्शी यंत्र ने मानव दृष्टि को अभिवर्धित नहीं कर दिया। सूक्ष्मदर्शी की सहायता से उन भिन्नताओं का स्रोत मालूम हुआ—प्रत्येक भिन्न टिशू की रचना भिन्न प्रकार की कोशिकाओं से हुई है। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में सूक्ष्मदर्शी यंत्र द्वारा देखी गई शरीर रचना सम्बन्धी भिन्नताओं के आधार पर एक नयी विज्ञान शाखा का जन्म हुआ जिसे हिस्टॉलौजी या सूक्ष्मदर्शी शरीर-रचना-शास्त्र नाम दिया गया। साथ ही इन भिन्न प्रकार के टिशुओं की क्रियाओं के अध्ययन से जो ज्ञान प्राप्त हुआ, उसे शरीर-क्रिया-विज्ञान या फिज़ियालाजी कहा गया।

इस बीच रसायन-शास्त्री अपने औज़ारों को तेज करता रहा और उनकी सहायता से अकार्बनिक जगत् का अन्वेषण करता रहा। अंत में जब पराजय-मूलक प्रतिबन्ध हट गये तब उसने जीवित जगत् का भी रासायनिक अन्वेषण आरम्भ किया। मालूम हुआ कि शर्करा के उपापचयन पर पैन्क्रियास इसलिये नहीं हावी है कि उस अंग की असाधारण संरचना है, बल्कि इसलिये कि उसकी कोशिकाएँ असाधारण अणु, इन्सुलिन पैदा करती हैं। इस प्रकार वर्णनात्मक जीव रसायन-शास्त्र का जन्म हुआ जिसे लेखक आण्विक शरीर-रचना-शास्त्र कहना पसन्द करता है।

अभी तक जीव-शास्त्री का प्रयत्न मुख्यतः यह रहा है कि आण्विक शरीर-रचना-शास्त्र को पूर्ण बनाया जाय। कोशिकाओं के आण्विक संघटकों को पृथक् करने और उन्हें पहचानने में उसे अद्भुत सफलता मिली है। उसने ऐमिनो अम्लों, विटामिनों, हार्मोनों और एन्ज़ाइमों की तालिका बना ली है। यद्यपि यह सब ज्ञान प्रभावकारी है तथा पोषण और औषधि की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है फिर भी यह आचर्यजनक रूप में अपूर्ण ज्ञान है। हम कोशिका के उन संघटकों की कार्य-प्रणाली के बारे में कुछ भी नहीं जानते। जीव-शास्त्रियों के प्रयत्न से हम इंसुलिन हार्मोन की संरचना के बारे में जानते हैं। यह भी सब लोग जानते हैं कि औषधि के रूप में उसकी क्षमता आश्चर्यजनक है। परन्तु वैसी संरचना वाला एक अणु किस तरह इतना प्रभावकारी सिद्ध होता है, इसके बारे में हम कुछ नहीं जानते। हमें धैर्य के साथ एक दूसरे विज्ञान, आण्विक शरीर क्रिया के बारे में मूलभूत ज्ञान प्राप्त करने के लिये तैयार होना है। इसमें आण्विक संरचना और कोशीय क्रिया के परस्पर सम्बन्ध का अध्ययन किया जायगा।

कोशिका के किसी संघटक की रासायनिक संरचना में तनिक भी परिवर्तन होने से उसके व्यवहार में परिवर्तन हो जाता है और उसकी क्षमता पूर्णतः या तो बदल जाती है या नष्ट हो जाती है। लिनालिइक अम्ल एक ऐसा अनिवार्य चर्बीय अम्ल है जिसकी कमी से चूहों की मृत्यु हो जाती है। इस अम्ल का स्थान

ओलिइक अम्ल नहीं ले सकता। इन दोनों अम्लों की संरचनाओं में यह अंतर है कि लिनालिइक अम्ल में दो प्रोटॉन और दो इलेक्ट्रॉन की कमी होती है। इन चार कणों की कमी के कारण लिनॉलिइक अम्ल में जीवन की रक्षा करने की क्षमता कैसे उत्पन्न हो जाती है, यह नहीं मालूम है। यह कहना कि इन दो चर्बीय अम्लों की क्षमताओं में भिन्नता का कारण है लिनॉलिइक अम्ल का किसी विशेष एन्ज़ाइम तंत्र में फिट होना, अपने अज्ञान को दूसरे शब्दों में व्यक्त करना है।

यह वह क्षेत्र है जिसमें भावी शोध-कार्य से बहुत लाभ होने की सम्भावना है क्योंकि हम कोशिका के आधारभूत बृहद् अणुओं, प्रोटीनों और न्यूक्लिइक अम्लों की संरचना और क्रिया के परस्पर सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानते। कोशिका के सामान्य और असामान्य व्यवहारों की पहेली बूझने के लिये उन संरचनाओं का अध्ययन किया जाता है। कैंसर बहु स्किलरॉसिस, आर्टिरियास्किलरॉसिस इन ह्रास-मूलक बीमारियों की पहेलियाँ भी संरचना में ही निहित हैं।

वर्णनात्मक जीव-रसायन-शास्त्र से प्राप्त ज्ञान की सहायता से मनुष्य की दो अन्य बड़ी बीमारियों पर काबू किया जा सका है। वे हैं अभावमूलक बीमारियाँ और संक्रामक बीमारियाँ। बाह्य अभावों को विटामिनों, ऐमिनो अम्लों तथा उपयुक्त लवणों को देकर दूर किया जा सकता है। यदि अभाव आंतरिक है जैसे हार्मोनों की अपर्याप्त उपलब्धि, तो बहुत से मामलों में इस कमी को अन्य प्राणियों के अंगों के अर्कों को देकर या कृत्रिम संपाकों को देकर पूरा किया जा सकता है। संक्रामक रोगों पर ऐंटीमेटाबोलाइटों और ऐंटीबायोटिकों तथा अन्य रासायनिक चिकित्सापरक द्रव्यों की सहायता से करीब-करीब काबू पा लिया गया है। अन्य बाकी दुराग्रही संक्रामक बीमारियों के लिए प्रभावकारी औषधियों का आविष्कार केवल समय की बात है।

परन्तु ह्रासपरक बीमारियों के सामने विज्ञान तथा चिकित्सा-शास्त्र अभी भी अपने को लगभग असहाय अनुभव करते हैं। ऐसी आशंका है कि इन बीमारियों के विरुद्ध तब तक प्रगति नहीं हो सकती, जब तक आण्विक शरीर-क्रिया-शास्त्र के बारे में और अधिक विस्तृत ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता। हमारे सामने जो यह विशाल कार्यक्षेत्र फैला है उसके लिये रसायन-शास्त्र के औज़ार शायद उपयुक्त न सिद्ध हों। रासायनिक विश्लेषण से केवल यह पता चलता है कि किसी अणु पुंज में कौन-कौन से संघटक हैं। पुंज की त्रिविमितीय संरचना के बारे में उससे बहुत काम जानकारी प्राप्त हो सकती है। यह बात अधिकाधिक स्पष्ट होती जा रही है कि अणु की क्रिया में उसकी ज्यामिति एवं संलग्न अणुओं के साथ उसकी अपेक्षिक स्थिति का उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान है जितना उसकी

रचना का। आण्विक पुंजों के स्थलाकृतिक अन्वेषण के लिए हमें भौतिकी वेत्ताओं तथा भौतिक रसायन शास्त्रियों की सहायता लेनी पड़ेगी क्योंकि इस कार्य के लिये उनके उपकरण अधिक उपयुक्त हैं। इस दिशा में उनके योगदान पहले भी बहुत महत्त्वपूर्ण रहे हैं। एक पुराने जीव-शास्त्री ने बैक्टीरिया भक्षक का आविष्कार किया। वह उसका वर्णन केवल इस तरह कर सकता था कि वह एक पकड़ में न आने वाला द्रव्य है जो बैक्टीरिया के लिए विषैला है। तब जीव-रसायन-शास्त्री आये, जिन्होंने वाइरसों को पृथक् किया और इनमें बैक्टीरिया भक्षक शामिल थे। उनके रासायनिक विश्लेषण से मालूम हुआ कि वाइरसों में न्यूक्लिइक अम्ल और प्रोटीन होते हैं। परन्तु वाइरस है क्या ? इसकी कोई संरचना होती है या यह केवल घुला हुआ एक अणु है ? इन प्रश्नों का उत्तर तब मिला जब भौतिकी-वेत्ता ने अपने इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी यंत्र से उसे देखा। आकृति १ में एक बैक्टीरिया-भक्षक का चकितकारी फोटो है जो इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी से लिया गया है। हमें स्मरण रखना चाहिये कि जीवन की ओर अग्रसर प्रोटोप्लाज़्म का यह कण इतना छोटा है कि ३ करोड़ कण पिन की नोक पर नृत्य कर सकते हैं। बैक्टीरिया भक्षक विघटित किया जा सकता है और एक अति उच्च वर्ग वाले सेन्ट्रीफ्यूज़ के चार गुरुत्वीय बलों द्वारा उसके विभिन्न खण्डों को पृथक् किया जा सकता है। सेन्ट्रीफ्यूज़ भौतिकी वेत्ताओं का उपकरण है।

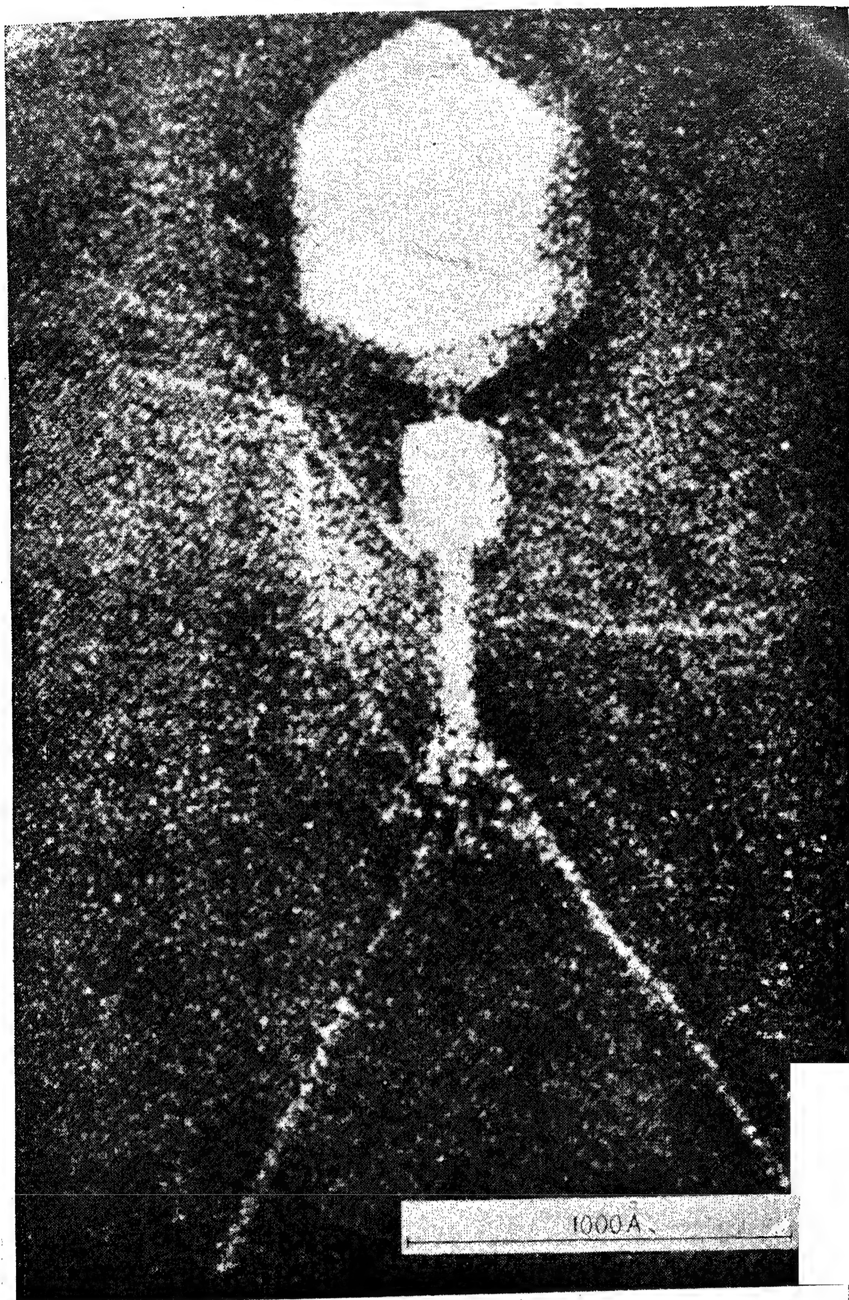
आकृति २ में बैक्टीरिया भक्षक के केवल तने दिखाई देते हैं। गोल रैचेट चक्र वे तने हैं जिनका फोटो उस अवस्था में लिया जा सका जब वे सीधे खड़े थे। इस आकृति से हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि बैक्टीरिया-भक्षक का तना एक खोखली नली है जिसका पृष्ठ ऐसा प्रतीत होता है मानो उस पर उभरे हुए धागे हों। इससे नली मज़बूत हो जाती है। इसी नली में से होकर बैक्टीरियम में डी० एन० ए० प्रवेश करता है। आकृति १ में जो कोड़े जैसे धागे दिखाई देते हैं शायद उन्हीं की सहायता से बैक्टीरिया अपने शिकार को पकड़ता है। परन्तु इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि इस मामले में संरचना और क्रिया का परस्पर सम्बन्ध ज्ञात कर लेना अपेक्षाकृत आसान है क्योंकि हम अपेक्षाकृत बड़ी संरचना का अध्ययन कर रहे हैं। अभी हम अणुओं के स्तर तक नहीं पहुँच पाये हैं जो इलेक्ट्रॉन-सूक्ष्म-दर्शी में प्रवहमान इलेक्ट्रानों की पहुँच के बाहर हैं। उसके परे क्या है ? यदि हम अणुओं को देख सकें तो कैसी-कैसी अद्भुत बातें हमारे सामने आयेंगी ? कैसा सौन्दर्य ? कैसा ज्ञान ? कोशिका की सामान्य तथा असामान्य क्रियाओं की झाँकी के लिये कैसी अन्तर्दृष्टि ?

सम्प्रति, आण्विक संरचना की झांकियों के लिए हमें अप्रत्यक्ष प्रणालियों पर निर्भर होना पड़ेगा। भौतिकी-वेत्ता अणुओं पर एक्स किरणों की बौछार करता है। ये किरणें अणुओं से टकरा कर प्रत्यावर्तित होती

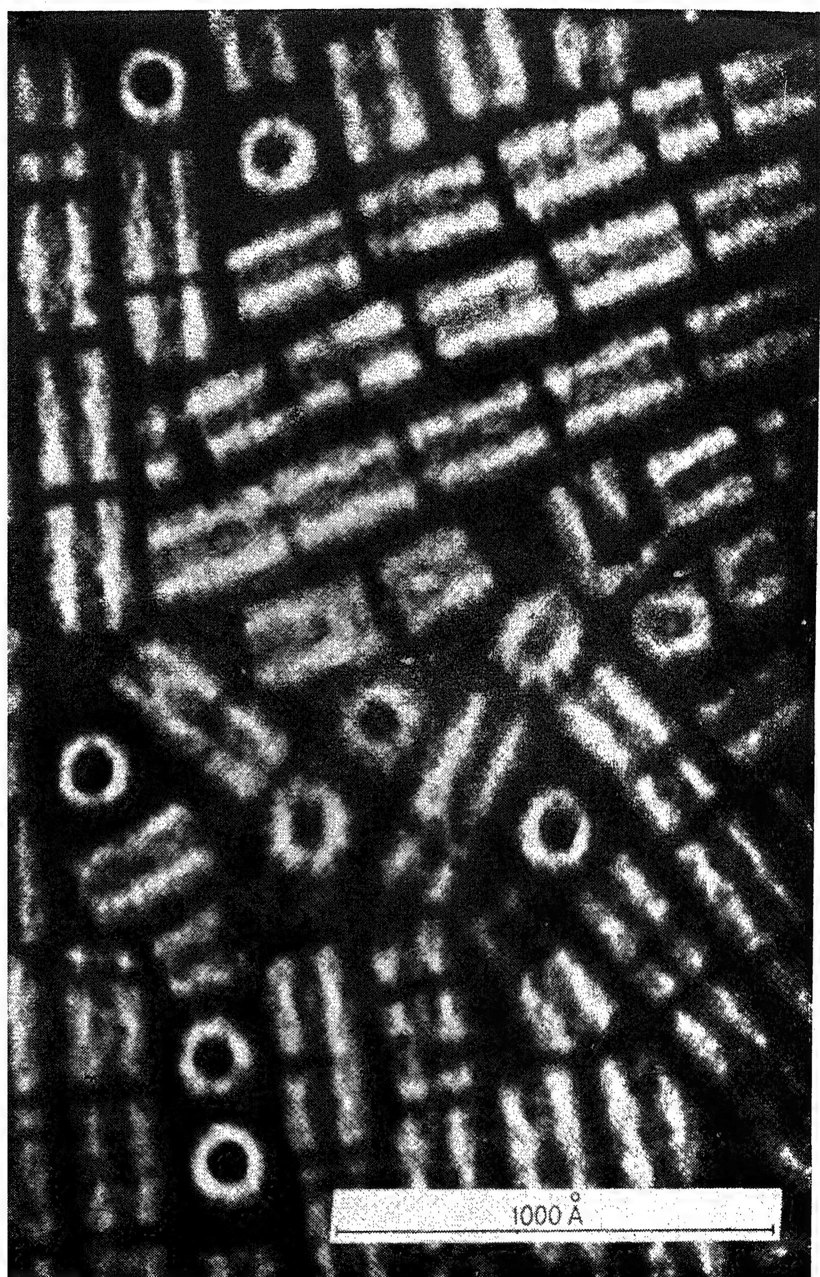
हैं। इन प्रत्यावर्तित एक्स किरणों के पैटर्न से, वह अद्भुत निपुणता के साथ, अणुओं की संरचना के बारे में निष्कर्ष निकालता है। कहा जाता है कि हीमाग्लॉबिन अणु एक घुमावदार जीने की तरह दिखाई देता है जो खो गया हो। (आकृति ३ में ऐसे अणु का निर्मित रूप दिखाया गया है।) दुर्भाग्यवश आण्विक स्तर पर संरचना तथा क्रिया का परस्पर सम्बन्ध अभी स्पष्ट नहीं हो सका है। यह सम्बन्ध निश्चित करने के लिये हमारे पास काफी जानकारी है। वर्षों परिश्रम करके एक्सरे फोटो लिये जाते हैं। उनका मापन किया जाता है और गणनाएँ की जाती हैं। तब कहीं जाकर प्रोटीन अणु का ख्यात चित्र बन पाता है जो आकृति ३ में दिखाया गया है। एक अपेक्षाकृत सरल प्रोटीन अणु इंसुलिन का त्रिविमतीय चित्र निर्मित करने में दस या उससे अधिक वर्ष लग सकते हैं। अतः स्पष्ट है कि उन आण्विक पुंजों में से कुछ की संरचना का अध्ययन आरम्भ करने के लिए भी हम अभी तैयार नहीं हैं जिनके बारे में हम जानते हैं कि वे जैव प्रक्रियाओं में क्रियात्मक इकाइयाँ हैं।

सम्प्रति जीव-भौतिकी-वेत्ताओं की संख्या बहुत कम है और जो है भी वे जैव अनुसंधान मंच के किनारे काम करते हैं। परन्तु हम में से बहुत से अनुभव करते हैं कि वे निर्ममता के साथ जीव-रसायन-शास्त्रियों को मंच के मध्य से ढकेल कर स्वयं वहाँ आ धमकेंगे। ठीक वैसे ही जैसे हम लोगों ने शरीर-क्रिया-शास्त्रियों और सूक्ष्म-दर्शीय-शरीर-शास्त्रियों को ढकेल बाहर किया था। अंततोगत्वा जब जीव-भौतिकी-वेत्ता हम जीव-रसायनज्ञों को तकनीकी बेकारी का शिकार बना देंगे तब जिन्सर की भविष्यवाणी सत्य हो जायेगी। तब जीव-विज्ञान, व्यावहारिक भौतिकी हो जायगा। परन्तु इसके पहले कि वह भविष्यवाणी चरितार्थ हो, अभी इतना समय और इतनी आवश्यकता है कि पुराने जीव-शास्त्रियों की कई पीढ़ियाँ और जीव-रसायन-शास्त्रियों की उससे भी अधिक पीढ़ियाँ काम करती रहें।

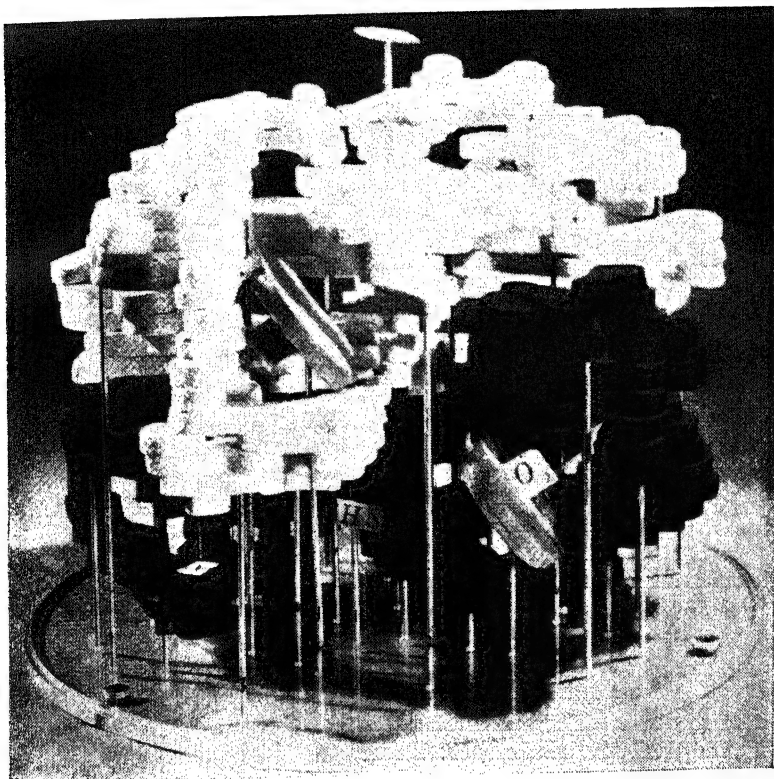
जीव-विज्ञान के साथ किसी नयी विद्या का प्रभावकारी सहयोग तभी सम्भव है जब विकास का एक निश्चित क्रम स्थापित हो चुका हो। जीव-विज्ञान के क्षेत्र में अधिकांश आधारभूत प्रेक्षण पुराने जीव-शास्त्रियों द्वारा किये गये थे। बाद में घटनाओं की आण्विक प्रक्रियाओं का अन्वेषण करने के लिए जीव-रसायन-शास्त्री आये। १९०० में मेण्डेल द्वारा आविष्कृत आनुवंशिक नियम व्यापक रूप से लोगों को ज्ञात हो गये। परन्तु १९४० वें के आरम्भिक भाग में कहीं जाकर आनुवंशिक प्रक्रिया के रासायनिक पथ का सफलतापूर्वक अन्वेषण हो सका— यह मालूम किया गया कि एन्ज़ाइम उत्पन्न कर जीन अपना प्रभाव डालते हैं। दूसरी समस्या जिसे हल करना है और जिसे शायद जीव-भौतिकी-वेत्ता ही हल कर सकेंगे, यह है कि द्रव्य का एक कण, जीन, दूसरे द्रव्य-कण एन्ज़ाइम को



आकृति १—बैक्टीरियाभक्षक (आवर्धन लगभग ५००,०००)।



आकृति २—बैक्टीरियाभक्षक के उभरे हुए तने ।



आकृति ३—हेमोग्लोबीन अणु का मॉडल।

कैसे पैदा करता है ? इस प्रश्न का उत्तर कब मालूम होगा, यह कहना असम्भव है।

क्या बहुत से भौतिकी-वेत्ताओं और भौतिक-रसायन-शास्त्रियों का जैव समस्याओं का अध्ययन करने के लिए प्रेरित कर जीव-विज्ञान के विकास की प्रगति तीव्र की जा सकती है ? इससे जीव विज्ञान की प्रगति उसी तरह तीव्र नहीं होगी जिस तरह नींव खोदाई के समय घर में बिजली का तार लगाने के लिए बहुत से विद्युत् कारीगरों को काम पर लगाने से भवन निर्माण की प्रगति द्रुत नहीं होगी । इसके पहले कि किसी जैव घटना के भौतिक रासायनिक पहलू को देखा या समझा जाय यह आवश्यक है कि उस घटना की पहचान छान-बीन और विकास किया जाय ।

इसके अतिरिक्त केवल यही आवश्यक नहीं है कि भौतिकी-वेत्ता को काम पर लगाने के पूर्व क्षेत्र तैयार किया जाय बल्कि यह भी आवश्यक है कि इस काम के लिये उपयोगी सिद्ध होने के लिए भौतिकी वेत्ता भी तैय्यारी करे । भौतिकी वेत्ता को प्रशिक्षित करने में वर्षों लग जाते हैं और इसके पूर्व कि वह कार्य के लिये उपयोगी सिद्ध हो, जैव समस्याओं का सामना करने के लिए फिर से प्रशिक्षित करने की आवश्यकता है । और इसके लिए धन आवश्यक है।

और यहाँ अनुसंधान की सहायता विषयक परेशान करने वाली समस्या उठ खड़ी होती है । द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व अमेरिका में वैज्ञानिकों के प्रशिक्षण के लिए ही पर्याप्त आर्थिक सहायता का अभाव नहीं था, बल्कि हर प्रकार के शोध कार्य के लिए बहुत कम धन उपलब्ध था । युद्ध से पूर्व जैव विज्ञान में अधिकांश शोध-कार्य विश्वविद्यालयों और मेडिकल स्कूलों में प्रोफेसरों द्वारा अंशकालिक आधार पर (करीब-करीब शौक के तौर पर) किया जाता था । पूर्णकालिक अनुसंधान पद बहुत कम थे और इस तरह के पदों पर नियुक्त अधिकांश लोगों के पास या तो स्वतंत्र आय होती थी या फिर उन्हें गरीबी का व्रत लेना पड़ता था । इसके अलावा अनुसंधान की योजना बहुत छोटे पैमाने पर बनानी पड़ती थी क्योंकि कर्मचारियों तथा उपकरणों के लिए धन नहीं था । प्रायः सम्भावना-पूर्ण दिशाओं में आगे नहीं बढ़ा जा सकता था । पेनिसिलिन के आविष्कार और उसके विकास के बीच दस साल का अलगाव जैव अनुसंधान की खेदपूर्ण उपेक्षा का ज्वलंत उदाहरण है । फ्लेमिंग ने १९२९ में स्वीकार किया कि पेनिसि-लिन एक "सक्षम रोगाणुरोधक" हो सकता है परन्तु "पर्याप्त रासायनिक सहायता के अभाव" के कारण वह उसे सांद्रित करने में असमर्थ रहा । यदि फ्लेमिंग को १९२९ में अपनी योजना के लिए ८००० पौंड प्रतिवर्ष की धनराशि उपलब्ध रही होती तो वह उसे सांद्रित करने में सफल हो सका होता । परन्तु १९२९ में इंगलैंड या अमेरिका में किसी प्रसिद्ध और सिद्धहस्त शोधकर्ता को भी उसका

शोध योजना के लिये ८००० पौंड मिलना आसान नहीं था। यह सच है कि शोध की प्रत्येक सम्भावना से वैसे फल नहीं मिलेंगे जैसे पेनिसिलिन से मिले। परन्तु हज़ारो निरर्थक शोधों में धन लगाना सार्थक होता, यदि उनमें से एक भी पेनिसिलन जैसी अमूल्य निधि देने में समथ होता।

यह बात नहीं थी कि हमारी अर्थ-व्यवस्था और अधिक अनुसंधान का व्यय नहीं वहन कर सकती थी। बात केवल यह थी कि ऐसी सहायता की अपरिहार्य आवश्यकता को लोग अनुभव नहीं करते थे। हिसाब लगाया गया है कि १९४० से पूर्व अर्थी के फूलों के लिये हमारा वार्षिक राष्ट्रीय व्यय १० करोड़ डालर था। इसकी तुलना में चिकित्सा अनुसंधान पर कुल व्यय ४½ करोड़ डालर था जिसमें से केन्द्रीय सरकार ने केवल ३० लाख डालर दिया था। इस चिंतनीय स्थिति के लिए कौन उत्तरदायी है ? ऐसा लगता है कि इसकी कल्पना जोनाथन स्विफ़्ट ने अपने किसी कटु व्यंग्य के लिये की हो। इसमें अंशतः स्वयं वैज्ञानिकों का दोष है कि उनके कार्य के महत्त्व को लोग नहीं समझते थे और उन्हें सहायता नहीं देते थे। उन्होंने अपने को अपनी प्रयोगशालाओं में बंद कर रखा था और बाहरी संसार से सम्पर्क रखना छोड़ दिया था। एक समय था और यह बहुत पहले की बात नहीं है जब किसी ख्याति-प्राप्त वैज्ञानिक द्वारा कोई लोकप्रिय लेख या पुस्तक लिखी जाने पर उसके सहयोगिकों की भौंहें उठ जाती थीं। विज्ञान की उपलब्धियों से जनता को परिचित कराने का काम ऐसे व्यक्तियों पर छोड़ दिया जाता था जिनके वर्णनों से प्रतीत होता था कि ज्ञान का पथ कुछ ऐसे सनकी लोगों की प्रतिभा की चमक से प्रकाशित होता है जो अजीब तरह के कांच पात्रों तथा बहुत से शंकालु एवं ईर्ष्यालु सहयोगियों से घिरे अंधेरी और गंदी प्रयोगशालाओं में अपना जीवन व्यतीत करते हैं।

हाल में स्थिति में सुधार हुआ है। स्वयं वैज्ञानिकों द्वारा ज्ञान का प्रसार बड़े पैमाने पर किया जाने लगा है। समाचारपत्रों में भी वैज्ञानिकों के कार्यों के बारे में बेहतर रिपोर्टें दी जाने लगी हैं। परन्तु यह भी सही है कि कुछ अनुसंधान संस्थानों और वैज्ञानिकों ने अपनी उपलब्धियों को जनता तक पहुँचाने का उत्तर-दायित्व जरूरत से ज्यादा उत्साह के साथ अपने कंधों पर ले रखा है क्योंकि दुर्भाग्यवश अपना उल्लू सीधा करने की क्षमता तथा वैज्ञानिक शोध करने की क्षमता, ये दोनों परस्पर-विरोधी नहीं हैं। इससे विशेष हानि नहीं है यदि हम याद रखें कि यह आवश्यक नहीं कि आज के चीखते हुए शीर्षक विज्ञान के इतिहास में भी मोटे अक्षरों में लिखे जायें और यदि हम किसी वैज्ञानिक के मूल्यांकन का काम उसके साथी वैज्ञानिकों पर छोड़ दें। विज्ञान के विशाल साहित्य का विशेषज्ञ ही बता सकता है कि कोई आविष्कार नया है या नहीं, आलोचनात्मक पुनरा-

वृत्ति ही उसके सत्य की स्थापना कर सकती है और केवल समय ही उसकी योग्यता माप सकता है।

जैव-अनुसंधान और अनुसंधान को पेशे के रूप में अपनाने वाले वैज्ञानिकों को सहायता देने के मामले में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद बहुत सुधार हुआ है। इस सौभाग्य के तीन कारण हैं—परमाणु बम, स्पुतनिकों के मामले में रूस की सफलताएँ और सीनेटरों तथा कांग्रेसियों की बीमारियाँ। परन्तु दुर्भाग्य की बात है कि यद्यपि केन्द्रीय सरकार जैव-अनुसंधान पर बहुत अधिक धन व्यय करता है फिर भी सहायता देने की जो व्यवस्था है वह अनियमित है, उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता और उसमें दूरदर्शिता का अभाव है।

हम इस बात पर जोर देना चाहते हैं कि जैव-अनुसंधान में लगे हुए हम में से अधिकांश, अनुसंधान को सहायता देने वाली सरकारी संस्थाओं के कर्मचारियों के प्रशंसक हैं। चूँकि हम सभी निजी कारबार के देवता की पूजा करते हैं अतः सरकारी संस्थाओं की कार्य-क्षमता की निंदा करना एक फैशन हो गया है। परन्तु वास्तव में यू० एस० जन-स्वास्थ्य सेवा का राष्ट्रीय स्वास्थ्य संस्थान, जो जैव अनुसंधान को सहायता देने वाली सबसे बड़ी संस्था है, असाधारण रूप से सक्षम एक संगठन है। इसके अनुसंधानकर्ता किसी से कम नहीं हैं। अपने यहाँ लाने के लिये विश्वविद्यालय उन्हें निरंतर प्रलोभन देते रहते हैं। मेडिकल स्कूलों के जीव-रसायन विभागों के बहुत से प्रधान, जिनमें एक नोबल पुरस्कार विजेता भी हैं, राष्ट्रीय स्वास्थ्य संस्थान की देन हैं।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य संस्थान ने विश्वविद्यालयों तथा प्राइवेट संस्थानों को अनुसंधान की उन्नति के लिये अनुदान देने की जो व्यवस्था विकसित की है वह भी अनुकरणीय है। सहायता के लिये भेजे गये आवेदनों की समीक्षा उस क्षेत्र के विशेषज्ञों की एक समिति द्वारा की जाती है। इस समिति के अधिकांश सदस्य सरकारी आदमी नहीं होते। समिति भेजी गयी योजनाओं को उनके महत्त्व के अनुसार व्यवस्थित करती है। इस तरह प्रतिवर्ष योग्यता के आधार पर कांग्रेस द्वारा दिये गये धन से उतने अनुदान दिये जाते हैं जितने सम्भव होते हैं। और यहीं कठिनाई आरम्भ होती है क्योंकि कांग्रेस केवल यही नहीं निर्धारित करती कि कितना धन दिया जाय, और इस विषय में वह निश्चय ही पूर्णतः स्वतंत्र है, बल्कि वह अधिकाधिक यह भी निर्धारित करने लगी है कि किस दिशा में शोध किया जाय। यह प्रवृत्ति नयी नहीं है। यह सदा से होता आया है कि बटुए की डोरी आसानी से लगाम में बदल जाती है। जिन मार्गों पर चलना सर्वाधिक उपयोगी होगा उनका अभी पता नहीं ।परन्तु विशेषज्ञों को धता बता दी जाती है और कांग्रेसी मार्गदर्शक बन जाते हैं। अनुसंधान के प्रति उच्चपदस्थ अधिकारियों का क्या दृष्टिकोण होता है, यह भूतपूर्व प्रतिरक्षा सचिव चार्ल्स ई० विल्सन की इस उक्ति

में निहित है—"मैं यह नहीं जानना चाहता कि आलू क्यों भूरे हो जाते हैं।" इस उक्ति में विषय और भावना दोनों की विशेष रूप से कमी है। हम जानते हैं कि आलू क्यों भूरे हो जाते हैं। आलू के खुले हुए तल पर एंज़ाइम ऐमिनो-अम्ल टाइरोसीन का आक्सीकरण करते हैं जिससे वह भूरे रंग में परिवर्तित हो जाता है। परन्तु पूर्ण रूप से यह जानने के लिये कि आलू भूरा कैसे होता है मैं अपना दाहिना हाथ देने को तैयार हूँ। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिये अपने एक अंग को देने की बात कहना अतिशयोक्ति का उदाहरण मात्र नहीं है क्योंकि इस व्यापार में प्राप्त ज्ञान के द्वारा मैं एक बिल्कुल नया हाथ बना लूंगा जिसमें वर्तमान हाथ की तरह स्पर्श और चरमराने वाले जोड़ नहीं होंगे। यदि हमें केवल एक एंजाइम के काम करने की अंतिम प्रक्रिया मालूम हो जाय और यह भी मालूम हो जाय कि उसका निर्माण कैसे होता है और उसका नियंत्रण कैसे होता है तो वृद्धि और पुनर्जनन का ही नहीं बल्कि स्वयं जीवन की प्रक्रिया पर हमारा अधिकार हो जायगा।

कोई भी व्यक्ति जो ज्ञान-वृद्धि के इतिहास से या विज्ञान की संभावनाओं और सीमाओं से अवगत नहीं है वह वैज्ञानिकों के लिये निश्चय ही एक भावात्मक लक्ष्य निर्धारित करना चाहेगा। यही नहीं जिन मार्गों को चुना जायगा वे ऐसे होंगे जिनसे पदासीन साधारण ज्ञान वाले व्यक्ति परिचित हों। कैंसर के लिये औषधियों की तलाश के लिये योजनाओं का इतिहास इस बात का उदाहरण है कि कांग्रेसी और सीनेटर शोध के निदेशकों की भूमिका किस तरह अदा करते हैं।

कैंसर की वृद्धि रोकने वाली किसी औषधि के पाने की आशा ने बहुत से शोधकर्ताओं को इस दिशा में प्रयत्न करने के लिये प्रेरित किया। जैव प्रक्रियाओं के आधारभूत अध्ययनों से इस आशापूर्ण लक्ष्य के लिये मार्गदर्शी सिद्धान्त या केवल अनुमान उपलब्ध होते हैं। ऐसा प्रेरणा के उच्चतर स्तर पर हाता है। निम्नतम स्तर पर ऐसी खोजों में बेचारे कार्यकर्ता एक के बाद दूसरे रासायनिक द्रव्यों का परीक्षण मात्र करते रहते हैं। सामान्य परीक्षणों का क्षेत्र व्यापक बनाने के उद्देश्य से यू० एस० जन-स्वास्थ्य सेवा ने कुछ समय पूर्व, प्राइवेट औषधि कम्पनियों तथा कुछ अनुसंधान संस्थाओं को सरकारी सहायता देकर प्रोत्साहित करने का निर्णय किया। निजी संस्थाओं से ठेका करके ऐसी योजनाओं के लिये सरकार उन्हें, भवन, उपकरण और आदमी देती है। १९५७ में इस मद के लिये राष्ट्रपति के बजट में २,४००,००० डालर की व्यवस्था की गयी थी। कांग्रेस ने इस विचार को पसंद किया और फौरन इस राशि का दोगुना पास कर दिया। दूसरे साल, पिछले साल की बृहद् योजना को चालू रखना आवश्यक था। अतः उस वर्ष बजट में ४,३२३,००० डालर की व्यवस्था की गयी। कांग्रेस ने तत्काल उसे बढ़ा कर तीन गुना, १२,३७१,००० डालर कर दिया। इस प्रकार ठेके वाली

योजनाओं का विस्तार होता गया और १९६० में एक साल का खोज के लिये ३ करोड़ डालर मंजूर किया गया।

अतः काँग्रेस की दिलचस्पी के कारण रासायनिक औषधीय द्रव्य की एक साधारण खोज ने एक विशाल योजना का रूप ले लिया है। कई कारणों से यह एक संदेहास्पद योजना है। सम्भव है उन औषधियों से, जो हमें पहले ही उपलब्ध हैं, बेहतर औषधियाँ न हों और ये औषधियाँ कैंसर के विरुद्ध केवल क्षणिक सहायता देने में समर्थ हैं। हमें मालूम है कि कैंसर की कोशिकाएँ अपने को स्थिति के अनुरूप बनाने में बला की क्षमता रखती हैं। वे ऐसे एन्ज़ाइम पैदा कर सकती हैं जो औषधि द्वारा विषाक्त बनाई गयी उपापचयन क्रिया को चकमा देकर हमारे सारे किये कराये पर पानी फेर सकते हैं। सम्भव है कैंसर का नियंत्रण हमें केवल उस फल के रूप में प्राप्त होगा जो कोशिका की सामान्य प्रक्रिया विषयक हमारी बेहतर जानकारी से पालित और परिपक्व होगा।

उन तकनीकी कार्यकर्ताओं से इस ज्ञान के प्राप्त होने की सम्भावना नहीं है जो एक के बाद दूसरे रासायनिक द्रव्य के सामान्य परीक्षण में लगे हुए हैं। हमें ऐसी खोजों में लगे हुए अधिक तकनीकी कार्यकर्ताओं की आवश्यकता नहीं है जिन्हें एक काँग्रेसी समझ सकता है बल्कि प्रथम कोटि के और अधिक ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जिन्हें शोध-कार्य के लिये प्रशिक्षण और नियमित सहायता दी जाय। फिर भी विश्वविद्यालयों में विज्ञान की पुरानी स्नातक शिक्षण-सुविधाओं के आधुनिकीकरण के लिये राष्ट्रीय विज्ञान फाउण्डेशन द्वारा १९६० में की गयी १$\frac{१}{२}$ करोड़ डालर की माँग को हाउस ऑव रेप्रेज़ेन्टेटिव ने काट कर २० लाख डालर कर दिया।

किसी ने खूब कहा है कि जो लोग इतिहास नहीं पढ़ते, वे उसे दोहराते हैं। उन दो योजनाओं के, जिनके लिये सरकार से सहायता की माँग की गयी थी, आरम्भिक इतिहास का उल्लेख शायद लाभप्रद हो। जिस कहानी को मैं कहने जा रहा हूँ उसका शीर्षक 'दो बमों की कहानी' हो सकता है। ज्योंही हैन और मिट्नर ने न्यूट्रॉन की बौछार से यूरैनियम के खण्डित होने का समाचार प्रकाशित किया त्योंही बहुत से परमाणु वैज्ञानिकों को परमाणु विस्फोट की व्यावहारिक सम्भावना स्पष्टतः दिखाई देने लगी। मुक्त संसार के परमाणु वैज्ञानिकों को यह भय सताने लगा कि कहीं हिटलर इस दौड़ में आगे न निकल जाय। हमारी सरकार को इस विषय में सतर्क करने में उन्हें जिन निराशाओं का सामना करना पड़ा उसकी कहानी पहले प्रायः कही जा चुकी है। जो कुछ हुआ उसका संक्षिप्त विवरण यह है—डॉ० जार्ज पेग्राम ने, जो एक प्रसिद्ध भौतिकीवेत्ता और उस समय कोलम्बिया विश्वविद्यालय के ग्रैजुऐट स्कूल के डीन थे, नोबुल पुरस्कार विजेता एवं विश्व के एक प्रसिद्ध परमाणु विशेषज्ञ डॉ० एनिको फर्मी का परिचय देते

हुए यू० एस० नेवी डिपार्टमेंट को एक पत्र लिखा। परमाणु बम-निर्माण-सम्भावना की रूपरेखा, स्वयं फर्मी को नेवी डिपार्टमेंट को देनी थी। १७ मार्च, १९३९ को डॉ० फर्मी को भेंट के लिये बुलाया गया। एक नोबुल पुरस्कार विजेता का इंटरव्यू लेने के लिये नेवी विभाग ने दो लेफ्टिनैंट कमांडरों को भेजना पर्याप्त समझा। उन्होंने फर्मी की बात सुनी और उन्हें बैरंग वापस भेज दिया।

इस दो टूक जवाब के बाद पांच प्रसिद्ध भौतिकी-वेत्ताओं एनरिको फर्मी, लियो ज़िलार्ड, एडवर्ड टेलर, विक्टर वीज्काफ और यूजीन विग्नर ने लाचार होकर स्वयं अल्बर्ट आइन्स्टाइन से प्रार्थना की कि वे राष्ट्रपति रूज़वेल्ट से मिलें। आइन्स्टाइन ने अगस्त, १९३९ में एक पत्र लिखा जो एक बिचवई के हाथों राष्ट्रपति तक अक्टूबर १९३९ में पहुँचा। इस पत्र के परिमाण-स्वरूप लम्बे अध्ययन और सम्मेलनों के बाद २० फरवरी, १९४० में परमाणु बम योजना आरम्भ करने के लिये ६००० डालर की उदार राशि मंजूर हुई।

लगभग उसी समय एक दूसरा बम, सरकारी ध्यान आकर्षित करने और समर्थन प्राप्त करने के लिये शोर मचा रहा था। चूँकि यह प्रस्ताव प्रसिद्ध भौतिकी-वेत्ताओं द्वारा जिनमें दो नोबुल पुरस्कार विजेता भी थे, नहीं प्रस्तुत किया गया था अतः यू० एस० सीनेट ने उसे आसानी से मान लिया।

खानों में विस्फोटक मिश्रण के रूप में कार्बन के चूर्ण और द्रव ऑक्सीजन का इस्तेमाल बहुत पहले से होता रहा है। एक सूराख में कार्बन का चूरा भरा जाता है और उस पर आक्सीजन उड़ेली जाती है। तब एक चिनगारी से उसमें विस्फोट होता है। इस शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में इस विस्फोटक की सहायता से स्विट्जरलैण्ड में सिम्प्लन सुरंग खोदी गयी। परन्तु ऐसा समझा जाता था कि युद्ध के लिये यह मिश्रण बेकार है। आक्सीजन का निर्माण और बदलते हुए मोर्चे पर उसे ले जाना बहुत कठिन काम है। इसके अलावा कार्बन चूर्ण और द्रव आक्सीजन का मिश्रण इतना अस्थायी है कि उससे शत्रु पक्ष की अपेक्षा अपने पक्ष में हानि होने की अधिक सम्भावना है। साथ ही टी० एन० टी० से किसी बात में यह बेहतर नहीं है।

एक आविष्कारक, लेस्टर पी० बार्लो को यह बात सूझी कि हवाई बमों में कार्बन-द्रव आक्सीजन का उपयोग द्वितीय विश्वयुद्ध में जो उस समय भीषण रूप से चल रहा था, हमारी विजय का कारण बन सकता है। सीनेट की सैनिक एवं नेवल मामलों की समिति द्वारा समर्थित इस योजना की विफलता एक विस्मृत घटना है, परन्तु उसका उल्लेख उपयोगी होगा। सब संदर्भ १९४० के न्यूयार्क टाइम्स पत्र से लिये गये हैं।

सैनिक एवं नेवल मामलों की समिति ने १४ मार्च को बैठक बुलाने और सर्वोच्च हवाई बम के बारे में सुनवाई करने का निश्चय किया। चार दिन बाद

समिति को बताया गया कि 'कई मीलों तक बम सब कुछ नष्ट कर देता है।' मि० बार्लो ने पशुओं पर बम गिराने की आज्ञा मांगी ताकि टी० एन० टी० से उसकी तुलना की जा सके। समिति ने अपने कागज़ों को जला दिया, क्योंकि आविष्कारक ने अभी पेटन्ट नहीं लिया था।(एसा लगता है कि समिति ने सिम्प्लन सुरंग को बंद करने के लिये कोई कदम नही उठाया। पता नहीं यह भूल कैसे हो गई क्योंकि वह सुरंग भी शायद बिना पेटण्ट वाले इसी मिश्रण की सहायता से बनी थी ?)। १९ मार्च को टाइम्स पत्र ने एक समाचार प्रकाशित किया जिससे मालूम हुआ कि युद्ध और नेवी विभाग को बम के विषय में संदेह है। २० मार्च को घोषणा की गयी कि कांग्रेस के सदस्यों और स्थल सेना तथा नेवी के प्रतिनिधियों के समक्ष बम विस्फोट का प्रदर्शन किया जायगा। १७ मई को सरकारी परीक्षण स्थगित कर दिया गया क्योंकि काँग्रेस के सदस्यों के आने के पहले ही आविष्कारक महाशय नौ दो ग्यारह हो गये। मि० बार्लो ने दावा किया कि शस्त्रागार के अधिकारियों ने परीक्षण से २० मिनट पहले बम को तैय्यार रखने को कहा था। इस कारण बहुत सारा आक्सीजन उड़ गया। (बमबाजी के लिए ऐसे बमों को बी-२९ में रखकर कई घंटों तक उड़ने वाले वायुयान चालकों के लिए यह यात्रा एक अच्छी खासी पिकनिक होती।) अंत में २६ मई को वह क्षण आया जब परीक्षण से पृथ्वी या कम-से-कम उसका एक भाग काँपने वाला था। सीनेटर, कांग्रेसी और संवाददाता मेरीलैण्ड के परीक्षण स्थल पर एकत्र हुए। विस्फोटकेन्द्र से २००से लेकर १००० फुट की दूरियों पर ९८ बकरियाँ बाँधी गयीं। एक ३० फुट ऊँचे स्तम्भ पर १००० पौण्ड भारी बम रखा गया जिसमें ३०० पौण्ड कार्बन और ७०० पौण्ड द्रव ऑक्सीजन था। दर्शकों की सुरक्षा के हित में महाबम में आधा मील की दूरी से पलीता लगाया गया। जब प्रतिष्ठित दर्शक उस स्थल पर पहुँचे जहाँ प्रलय दृश्य की अपेक्षा थी तो वे क्या देखते हैं कि सब बकरियाँ बड़े इत्मीनान से घास चर रही हैं। न्यूयार्क के टाइम्स पत्र के अनुसार आविष्कारक ने कहा, "मेरी बड़ी भद हुई, परन्तु यह मालूम करने के लिए परीक्षण तो करना ही था।"

कहानी यहीं नहीं खत्म होती। १८ जून को सीनेटर शेपर्ड ने बार्लो के प्रयोगों को सहायता देने के लिए ५०,००० डालर मंजूर कराने का प्रयत्न किया। स्मरण रहे तब तक परमाणु बम योजना के लिए केलल ६००० डालर मिला था।

आश्चर्य होता है कि हमने पिछले बीस वर्षों में कुछ नहीं सीखा है। विज्ञान के मामले में वैज्ञानिकों की बात आज भी सबसे बाद में सुनी जाती है। हम पृथ्वी की परिक्रमा करने के लिए किसी आदमी को अन्तरिक्ष में भेजने के लिए अरबों डालर खर्च कर रहे हैं जबकि सूक्ष्म यंत्र उससे कहीं अधिक सूचना भेज सकते हैं।

जितना कि आदमी दे सकता है। परन्तु १९६० में कांग्रेस के छोटे सदन ने, राष्ट्रीय विज्ञान फाउण्डेशन को आधारभूत अनुसंधान के लिए ७-८ करोड़ डालर दिये जाने की प्रशासन की माँग में दस प्रतिशत की कटौती कर दी। इसका अर्थ है कि तीन सौ भिन्न कालेजों और अनुसंधान संस्थानों की शोध योजनाओं के ६० प्रतिशित उपयोगी प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिये गये।

क्या पता हम किसी ऐसे शोध-कार्य को भूखों मार रहे हों जिससे हमें कैंसर वृद्धि की उत्पत्ति के बारे में प्रथम संकेत मिलता। कांग्रेस के सदस्य की बात छोड़िये, वैज्ञानिक जगत् और स्वयं शोध-कार्य में लीन वैज्ञानिक भी शायद यह न पहचान सके कि उसके कार्य में वह संकेत निहित है। अनुदान के लिये भेजे गये प्रार्थना-पत्र का शीर्षक 'कैंसर के कारण और इलाज के अध्ययन' नहीं होगा बल्कि उसका शीर्षक, 'हेटरोसाइक्लिक म्वायटीज़ से प्राप्त मैक्रोमालिक्यूलर पृष्ठों पर अनियत इलेक्ट्रॉन रेज़ोनेंस बाधाओं के अध्ययन' होगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे बहुत से सरकारी अधिकारी, भूत-पूर्व प्रतिरक्षा सचिव चार्ल्स ई० विल्सन की आधारभूत शोध-विषयक इस दूसरी उक्ति से सहमत हैं कि "आधारभूत शोध वह है जिसके बारे में आपको पता न हो कि आप क्या कर रहे हैं।" शोधकर्ता को निस्सन्देह मालूम होता है कि वह क्या कर रहा है। हाँ, प्रतिरक्षा मंत्री या काँग्रेस के सदस्यों को भले ही न मालूम हो। शासकों की उदासीनता सदा से वैज्ञानिकों के लिये अभिशाप रही है। जब माइकेल फैराडे से पूछा गया कि विद्युतीय प्रेरणा आविष्कार की—वह आविष्कार जिसने अंततोगत्वा हमारी विद्युतीय और एलेक्ट्रानीय सभ्यता को जन्म दिया—क्या उपयोगिता है तब उसने तपाक से उत्तर दिया, "नवजात शिशु की क्या उपयोगिता है ?"

जिन लोगों की प्रवृत्ति प्रबन्ध परक होती है वे अपने सामने एक साफ तस्वीर रखना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि उनके सामने एक सीधा सादा लक्ष्य हो, उस लक्ष्य तक ले जाने वाला मार्ग स्पष्ट हो और फल के बारे में गारंटी हो। परन्तु सफाई एक मामूली गुण है और सीधे सादे लक्ष्य मामूली दिमाग वाले लोगों को आकर्षित करते हैं। यदि पिछली कुछ शताब्दियों में सारे वैज्ञानिकों की रचनात्मक कल्पना उनके मालिकों—पादरियों, राजाओं या कांग्रेस के सदस्यों—द्वारा निर्धारित लक्ष्यों से सीमित होती तो हम आज भी निकृष्ट धातुओं को स्वर्ण में परिवर्तित करने का प्रयत्न करते रहते और हर बीमारी का इलाज पोल्टिस से और खून निकाल कर करते रहते। चूँकि हमारे देश के आधे से अधिक वैज्ञानिक अनुसंधान पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण है, अत: यह कहना अतिशयोक्ति होगी कि विज्ञान तथा उसके तकनीकी उपयोग की प्रगति, वैज्ञानिक

के रचनात्मक मस्तिष्क और कांग्रेस सदस्य के प्रबन्धपरक मस्तिष्क के बीच होने वाले गतिरोध के दूर होने पर निर्भर है।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य संस्थानों ने कुछ वर्षों पूर्व संस्थान और कांग्रेस के बीच की खाई पाटने के लिए एक चाल चली। उन्होंने अपना नाम ही बदल दिया। उदाहरण के लिये सूक्ष्म जीव विज्ञान संस्थान का नाम बदल कर ऐलर्जी और संक्रामक बीमारियों का संस्थान कर दिया गया और इस तरह काँग्रेस सदस्य के समझने लायक कर दिया गया। यह एक चुस्त समझौता था जिससे केवल उन लोगों को परेशानी होती है जिन्हें उस संस्था से पत्र-व्यवहार करना पड़ता है। परन्तु एक राष्ट्र के रूप में क्या हमें इतना विकसित नहीं होना चाहिये कि हमें ऐसी चालों का सहारा लेने की आवश्यकता न पड़े? क्या इतिहास से हमने कुछ नहीं सीखा? व्यावहारिक उपयोग चाहे वे चिकित्सा, तकनीक या युद्ध किसी भी क्षेत्र में हों, आधारभूत ज्ञान की जड़ों से केवल फलों के रूप में उपलब्ध होते हैं। आज जड़ को न सींचिये, कल फल सूख जायेंगे।

जीव-विज्ञान और चिकित्सा-विज्ञान में जिन क्षितिजों तक ज्ञान हमें ले जा सकता है वे हमारी वर्तमान दृष्टि से परे हैं। कौन कह सकता है कि मनुष्य की अंतिम क्षमता क्या है? पोषण तत्त्वों के विषय में हमारे ज्ञान के कारण उसकी ऊँचाई बढ़ी है, यह बात स्पष्ट है। यह भी एक सुप्रमाणित तथ्य है कि उसकी आयु क्रमशः बढ़ रही है। भावात्मक और बौद्धिक क्षेत्रों में हमारी सम्भावनाएँ क्या हैं? इसका उत्तर पाने का प्रयत्न कितना आवश्यक है? क्या इस आधारभूत प्रश्न का उत्तर पाने के लिए उस धन का दो प्रतिशत व्यय करना उचित है जो हम युद्ध की तैयारी में खर्च कर रहे हैं? पाठकों को और उसके काँग्रेस-सदस्यों को इस प्रश्न का उत्तर देना होगा।

हमारे राष्ट्र को एक दूरगामी आधार पर यह निश्चय करना है कि वह आधारभूत अनुसंधान पर कितना व्यय कर सकता है। तभी कोई आदमी उस इत्मीनान के साथ शोधकर्ता का पेशा अपना सकता है जिस इत्मीनान के साथ महिलाओं का बाल सँवारने वाला अपना पेशा अपनाता है। बाल वाले पेशे के लाभ स्पष्ट हैं। अतः समाज बाल संवारने वाले की अच्छी तरह से देख-भाल करता है, उसकी आय पर्याप्त है, उसका काम सुरक्षित है, उसके उपकरण उपयुक्त हैं और वह एक सुसज्जित वातानुकूलित कक्ष में काम करता है।

बहुत से अमेरिकी वैज्ञानिक ऐसी परिस्थितियों में काम करते हैं, जिन्हें कोई भी स्वाभिमानी नाई नहीं स्वीकार करेगा। सरकार से सहायता प्राप्त अनुसंधान में केवल एक वर्ष का ठेका होता है। कुछ युवक वैज्ञानिक आने-जाने वाले मज-दूरों की तरह हैं जो एक योजना से दूसरी योजना में जाते रहते हैं। प्रयोग-शालाओं में भीड़ होती है और उन में से कुछ तो स्लम से मिलती-जुलती हैं।

फिर भी बहुत से वैज्ञानिक उद्योग द्वारा दिये जाने वाले उच्चतर वेतनों और बेहतर कार्य-परिस्थितियों या प्राइवेट प्रैक्टिस से होने वाली उच्चतर आय के प्रलोभन का शिकार नहीं होते क्योंकि एक बार अंतिम सीमा के मधुर आकर्षण का अनुभव हो जाने पर वे उसे छोड़ नहीं सकते। वास्तविक शोधकर्त्ता इसलिये कार्य करता है कि किसी कवि के शब्दों में, जब वह अपनी प्रयोगशाला में काम करता होता है तब वह अन्य किसी समय की अपेक्षा कम दुःखी होता है।

पास्कल की भाँति वैज्ञानिक अच्छी तरह जानता है कि ब्रह्माण्ड में उसका क्या आपेक्षिक स्थान है —

क्योंकि आखिर प्रकृति में मनुष्य का क्या स्थान है ? अनन्त के समक्ष कुछ नहीं, कुछ नहीं की तुलना में सब कुछ, कुछ नहीं और सब कुछ के बीच एक केन्द्रीय बिन्दु और दोनों को समझने में अनन्ततः असमर्थ। वस्तुओं का अंत और आदि एक अभेद्य रहस्य में छिपा है। जिस शून्य से वह प्रकट हुआ है और जिस अनन्त में वह विलीन हो जायगा उन दोनों को जानने में वह समान रूप से असमर्थ है।

परन्तु जीव-वैज्ञानिक एक सुनिर्धारित क्षेत्र का अध्ययन करने में परम संतोष अनुभव करता है। वह 'कुछ नहीं और सब कुछ के बीच केन्द्रीय बिन्दु' का अध्ययन करता है अर्थात् वह जीवन और इसलिये मनुष्य की प्रक्रिया का अध्ययन करता है और वह जीवन व्यतीत करने के किसी अधिक उपयोगी तरीके से अनभिज्ञ है।

